THE

AMBADAS CHAWARE

DIGAMBARA JAINA GRANTHAMALA

OR

Karanja Jaina Series

Edited-

With the Cooperation of Various scholars

By—

Hiralal Jain, M. A., LL. B.,
King Edward College, Amraoti.

Volume II.

Published by—

Karanja Jaina Publication Society,
Karanja, Berar, India.

Savayadhammadoha

An Apabhramsa work of the 10th century.

Critically edited

With Introduction, Translation, Glossary, Notes and Index

By

Hiralal Jain, M. A., LL. B.,
Asstt Professor of Sanskrit,
King Edward College, Amraoti;
Sometime Research Scholar, Allahabad University.

1932.

एहु धम्मु जो आयरइ बंभणु सुद्दु वि कोइ ।
सो सावउ किं सावयहं अण्णु कि सिरि मणि होइ ॥७६॥

प्राक्कथन

प्रस्तुत ग्रन्थ के दर्शन प्रथम बार मुझे सन् १९२४ में कारंजा के सेनगण भण्डार में हुए थे और उस प्रति पर से इस ग्रन्थ का परिचय सन् १९२६ में प्रकाशित Catalogue of Sanskrit and Prakrit Mss in C P. & Berar में दिया गया था। उस परिचय से कई विद्वानों का ध्यान इस ग्रन्थ की ओर आकर्षित हुआ और उसे प्रकाशित कराने के लिये मुझ पर आग्रह होने लगा। किन्तु एक ही प्रति परसे इस का सम्पादन करने का मुझे साहस नहीं हुआ, इससे ठहरना पड़ा। अगले वर्ष इस ग्रन्थमाला की नींव डाली गई और तबसे ग्रन्थ की अन्य पोथियों की खोज में विशेषरूप से प्रयत्नशील होना पड़ा। सन् १९३० में हिन्दुस्तानी एकाडेमी, यू. पी., के अध्यक्ष श्रीयुक्त डॉ ताराचन्दजी एम.ए., डी. फिल, ने इस ग्रन्थ को देखने की इच्छा प्रकट की। किन्तु उस समय तक हमारे हाथ में इसकी उपर्युक्त एक ही वही प्रति थी और उसकी प्रथम कापी तैयार की जा रही थी इससे वह भेजी नहीं जा सकी। धीरे धीरे अन्य प्रतियों का पता चला और उसी अनुसार इसका संशोधन होता गया। अबतक हमें इसकी ग्यारह पोथियों का पता चला है जिनका परिचय 'संशोधन सामग्री' में कराया गया है।

पहले हमारा विचार ग्रन्थमाला के अन्य ग्रन्थों के सदृश इसका सम्पादन भी अंग्रेजी में करने का था। किन्तु अनेक मित्रों व ग्रंथमाला के सहायकों का आग्रह हुआ कि अपभ्रंश भाषा के कुछ ग्रन्थ हिन्दी में भी सम्पादित होना चाहिये ता कि हिन्दी संसार में उक्त दोनों भाषाओं का सम्बन्ध स्पष्ट रूप से झलक जावे। तदनुसार इस ग्रन्थ का सम्पादन हिन्दी में करने का निश्चय हुआ। आगे प्रकाशित होने वाले ग्रन्थों में भी अनेक ग्रन्थों का हिन्दी में सम्पादन करने का विचार है।

माला को सफल बनाने में आप बहुत कुछ कारणीभूत हुए हैं जैसा कि हम प्रथम ग्रंथ की प्रस्तावना में कह चुके हैं।

मान्यवर गोपाल अम्बादासजी चवरे, कारंजा, इस ग्रन्थ-माला के जीवनाधार हैं। आपकी प्राचीन जैन साहित्य को उत्तम ढंग से प्रकाशित देखने की बड़ी उत्कण्ठा है। आपकी ही प्रेरणा से हमें इस कार्य में विशेष उत्साह हुआ है। आपका उपकार चिरस्मरणीय है।

सरस्वती प्रेस अमरावती, के मैनेजर श्रीयुक्त टी. एम. पाटील तथा प्रेस के अन्य कर्मचारियों ने इस ग्रन्थ को छापने में बड़ी रुचि और सावधानी दिखाई है इसके लिये मैं उन्हें हृदय से धन्यवाद देता हूं।

इस ग्रन्थमाला का प्रधान उद्देश्य प्राचीन जैन साहित्य को इस ढंग से प्रकाशित करने का है कि जिससे साहित्यिक दार्शनिक व ऐतिहासिक खोज में विशेष सहायता पहुंचे। यह हम माला के प्रथम ग्रन्थ में ही प्रकट कर चुके हैं। यदि उस उद्देश्य की प्रस्तुत ग्रन्थ द्वारा किसी अंश में पूर्ति हुई तो हम व हमारा मण्डल अपने प्रयास को सफल समझेंगे। उसी दिशा में किसी प्रकार की कमी व त्रुटि की पूर्ति के सम्बन्ध में हमारे विद्वान् पाठक जो सम्मति प्रदान करने की कृपा करेंगे उसका हार्दिक स्वागत किया जायगा।

किंग एडवर्ड कालेज,
अमरावती
अनन्त चतुर्दशी, वि. सं. १९८९.

हीरालाल

विषयसूची

> प्रारम्भ–ॐ नमः श्री पार्श्वनाथाय ह्रीं धरणेन्द्रपद्मावतीसहिताय।
>
> अन्त–इय दोहाबद्धवयधम्मं देवसेनें उवदिट्ठु ।
>
> लहुअक्खरमत्ताहीयमो पय सयण खमंतु ॥
>
> इय दोहाबद्धसावयधम्मसम्मत्ते लिखितमिदं अनन्तकीर्तिन संवत् १७८० कुवार वदि १४ हृदयनगरमध्यात् लिखितमिदं ।

इसमें कुल दोहों की संख्या २३५ है और एक संस्कृत श्लोक 'उक्तं च' रूप से उद्धृत किया गया है (परिशिष्ट देखिये)। इसके पाठ अ. प्रति से अधिक मिलते हैं।

ज. प्रति जयपुर के तेरापन्थी मंदिर की है। पत्रसंख्या– ११, आकार– १०½″ × ४½″; पंक्तियां प्रतिपृष्ठ– १३, वर्ण प्रति पंक्ति– लगभग ३५; हाँसिया ऊपर नीचे–½″; दाँये बाँये–१½″.

> प्रारम्भ– श्री जिनाय नमः ।
>
> अन्त— इति श्री श्रावकाचारदोहकं समाप्तं ।

इसमें कुल दोहों की संख्या २२३ है। दोहा नं. २१९ नहीं है। नंबर देने में त्रुटि के कारण प्रति के अन्तिम दोहे पर नं. २२१ आया है।

द. प्रति पंचायती दिगम्बर जैन मंदिर, देहली, की है। पत्रसंख्या ११, आकार–११¾″×५″; पंक्तियां प्रतिपृष्ठ–९ से ११ तक, वर्ण प्रति पंक्ति–लगभग ३९, हाँसिया ऊपर नीचे–¾″, दाँये बाँये– १″ दोहों की संख्या २१४.

> प्रारम्भ– ॐ नमो वीतरागाय ।
>
> अन्त–इति श्रावकाचारदोहक समाप्तम् ।
>
> अथ संवत्सरेऽस्मिन् श्री नृपतिविक्रमादित्यराज्ये संवत् १६०१ वर्षे । श्रावण वदि ११ शुक्रवारे । मूलतारानक्षत्रे । श्रवण

ही गुटके में बंधी हुई हैं। इन प्रतियों को हमने नहीं देख पाया। उनका परिचय हमें हमारे मित्र श्रीयुक्त ए. एन. उपाध्ये, एम. ए., अर्धमागधी प्रोफेसर, राजाराम कालेज, कोल्हापुर, के एक पत्र से प्राप्त हुआ है।

२ ग्रन्थकर्ता

यह ग्रन्थ किसका बनाया हुआ है यह प्रश्न बड़ा जटिल है। ग्रन्थ के मूलभाग में कर्ता का कहीं, कोई, किसी प्रकार का भी उल्लेख नहीं पाया जाता। किन्तु जिन हस्तलिखित प्रतियों का ऊपर परिचय दिया गया है उनमें से अनेक के अन्त में ग्रन्थसमाप्तिसूचक वाक्यों में ग्रन्थकर्ता का नामोल्लेख किया गया है। हम यहां इन्हीं उल्लेखों की सूक्ष्म जांच कर सच्चे ग्रन्थकर्ता के पता लगाने का प्रयत्न करेंगे।

जैन पोथी (प; भ. प्र १.) में यह ग्रन्थ लक्ष्मीचन्द्रकृत या विरचित कहा गया है। विद्यानन्दि के शिष्य श्रुतसागर कृत षट्प्राभृत टीका में इस ग्रन्थ के आठ दोहे उद्धृत किये गये हैं और दो स्थानों पर उन दोहों के कर्ता स्पष्ट रूप से लक्ष्मीचन्द्र या लक्ष्मीधर कहे गये हैं- 'तथा चोक्तं लक्ष्मीचन्द्रेण गुरुणा', 'तथा चोक्तं लक्ष्मीधरेण भगवता'। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये दोनों नाम एक ही व्यक्ति के बोधक हैं। इससे भी उक्त प्रतियों के कथन की पुष्टि होती है। षट्प्राभृतटीका की प्रकाशित पुस्तक की भूमिका में जो श्रुतसागर का परिचय दिया गया है उससे ज्ञात होता है कि लक्ष्मीचन्द्रजी उनके समसामयिक थे तथा उनकी गुरुपरम्परा इस प्रकार थी- विद्यानन्दि- मल्लिभूषण- लक्ष्मीचन्द्र। उनकी एक चेली ने श्रुतसागर कृत 'महाभिषेकभाष्य' को अपने हाथ से लिखकर संवत् १५८२ में पूरा किया था। इन उल्लेखों से ऐसा प्रतीत होता है कि लक्ष्मी-चन्द्र ही प्रस्तुत ग्रन्थ के कर्ता थे, तथा वे संवत् १५८२ के लगभग हुए हैं।

किन्तु भ. प्रति में जो अन्तिम श्लोक है उससे इस कथन की सत्यता में सन्देह उपस्थित हो जाता है। इस श्लोक में प्रस्तुत ग्रन्थ के साथ

८६ दाणु कुपत्तहं दोसडइ
बोलिज्जइ णहु भंति ।
पत्थरु पत्थरणाव कहिं
दीसइ उत्तारंति ॥

११२ गमणट्ठियहं तरंडउ वि
भइव ण पावइ पारु ।

२२१ लोहकडि कुसातरणि
णाव वियारिय तेण ।

८९ काइं बहुत्तइं संपयइं
जइ किविणहं घरि होइ ।

९१ जो घरि हुंतई धणकणइं
मुणिहिं कुभोयणु देइ ।
जम्मि जम्मि दालिद्दडउ
पुट्ठि ण तहु छंडेइ ॥

९६ उत्तमाइं भोयणगिरिहिं

९७ घरि घरि दसु कणयरु जहिं
ते पुरिहिं अहिलासु ।

१११ जम्मि मुम्बइ भत्तडउ
छिज्जइ संवरेण ।

५४७ पत्थरमया वि दोणी
पत्थरमप्पाणयं च बोलेइ ।
जह तह कुच्छियपत्तं
संसारे चेव बोलेइ ॥

१८७ जह पाहाणतरंडे
लग्गो पुरिसो हु तीरणी तोए
बुड्डइ विगयाधारो...

५४९ लोहमए कुतरंडे
लग्गो पुरिसो हु तीरणीरे ।

५५९ किविणेण संचयधण
ण होइ उवयारियं जहा तस्स ।

५३६ जो पुण हुंतइं धणकणइं
मुणिहिं कुभोयणु देइ ।
जम्मि जम्मि दालिद्दडउ
पुट्ठि ण तहो छंडेइ ॥

५८७ पुण्णवलेणुब्भवड
कइमवि पुरिसो य भोयभूमीसु
भुंजेइ तत्थ भोए
दहकप्पतरुब्भवे दिव्वे ॥

५९१ पावइ दसप्पयारा
किमियं दिंति मणुयाणं ।

१० मज्जइ जलेण सुद्धि
२० को इह जलेण सुज्झइ
२१ जंता वि ते ण सुद्धा
२४ किं कुणइ तेसु जन्नं

किसी किसी विषय का एक ग्रन्थ में उल्लेख मात्र तथा दूसरे में उसका पूरा विवरण मिलता है, जिससे ये दोनों ग्रन्थ एक दूसरे के परिपूरक से ज्ञात होते हैं; जैसे–

१. अष्टमूलगुण व बारह व्रत का भावसंग्रह की ३५२ व ३५६ वीं गाथाओं में उल्लेख मात्र है। सावयधम्म के १० से ५२ तक के ४३ दोहों में इन्हीं का सविस्तर वर्णन है।

२. भावसंग्रह की ३७५ वीं गाथा में तीर्थंकर के अष्ट प्रातिहार्य का उल्लेख मात्र है। सावयधम्म में उन आठों का आठ दोहों (१७०–१७७) में काव्य की रीति से वर्णन है।

३. सावयधम्म के २१२ वें दोहे में सिद्धचक्र की स्थापना का बहुत सूक्ष्म उल्लेख है। इसी विषय का भावसंग्रह की ४४३–४५६ गाथाओं में बहुत विशद वर्णन है।

इस प्रकार इन दोनों ग्रन्थों में एक ही कर्ता का हाथ दिखाई देता है। विशेषतः सावयधम्म का जो ९३ वां दोहा भावसंग्रह के ५१९ नं० पर जैसा का तैसा पाया जाता है उससे इस विषय में बहुत कम सन्देह रह जाता है। भावसंग्रह जिन दो हस्तलिखित प्रतियों पर से छपाया गया है उनमें से एक प्रति में यह दोहा 'उक्तं च' करके पाया गया है। किन्तु अधिक पुरानी प्रति में 'उक्तं च' शब्द नहीं है। यदि 'उक्तं च' शब्द मूल के ही मान लिये जांय तो इससे यही सिद्ध होता है कि सावयधम्म की रचना भावसंग्रह से पूर्व हो चुकी थी और कर्ता ने उस दोहे को यहां प्रसंगोपयोगी जान उद्धृत कर दिया। ऐसी प्रवृत्ति देवसेनजी के अन्य ग्रन्थों में भी पाई जाती है। इसी भावसंग्रह में उनके दर्शनसार की अनेक गाथायें आई हैं। उक्त दोहे को प्रक्षिप्त मानने का न तो कोई प्रमाण है और न कोई कारण।

एक और बात है जो प्रस्तुत ग्रन्थ को देवसेनकृत स्वीकार करने में बहुत सहायता पहुंचाती है। देवसेनकृत जिन ग्रन्थों का उल्लेख हम ऊपर कर

यदि उक्त गाथाओं का यही ठीक मतलब हो तो इससे अनेक बातें ज्ञात होती हैं। एक तो यह कि दोहा छंद का आविष्कार उस समय हो गया था और पंडित मंडली में वह हेय दृष्टि से देखा जाता था। दूसरी यह कि देवसेन को इस छंद में ग्रन्थरचना करने की रुचि थी। उनके भावसंग्रह में ही पांच पद्य अपभ्रंश भाषा के दोहा छंद के पाये जाते हैं और शेष भाग में भी अपभ्रंश भाषा का अधिक प्रभाव दिखता है। नयचक्र का विषय परिपूर्ण न्याय था। अतः 'शुभंकर' के कुचक्र से उसका दोहाबन्द का नाश कर दिया गया। किन्तु सावयधम्म साधारण गृहस्थों के लिये लिखा गया था इससे वह उस कुचक्र से बच गया।

सौभाग्य से देवसेनजी के समय व देश के सम्बन्ध में कोई अंधेरा नहीं है। उन्होंने अपने दर्शनसार ग्रन्थ के अन्त में स्पष्ट रूप से कह रक्खा है कि उन्होंने इस ग्रन्थ की रचना धारा नगरी के पार्श्वनाथ मंदिर में बैठकर संवत् ९९० की माघ सुदि १० मी को समाप्त की। यथा—

> ' पुव्वायरियकयाइं गाहाइं संचिऊण एयत्थ।
> सिरिदेवसेणगणिणा धाराए संवसंतेण ॥ ४९ ॥
>
> रइओ दंसणसारो हारो भव्वाण णवसए णवए।
> सिरि पासणाहगेहे सुविसुद्धे माहसुद्धदसमीए ॥ ५० ॥

धारा नगरी व मालवा प्रान्त में सदैव विक्रम संवत् का प्रचार रहा है तथा दर्शनसार में अन्यत्र जहां जहां संवत् का उल्लेख आया है वहां कर्ता ने स्पष्टतः 'विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स' ऐसा कहा है। इससे उपरोक्त संवत् के भी विक्रम संवत् होने में कोई संदेह को स्थान नहीं है। धारानगरी विद्वानों के जुटाव के लिये प्राचीन काल में प्रसिद्ध ही रही है। प्राकृत भाषा का भी यहां अच्छा पठन होता रहा है। उपलब्ध प्राचीनतम प्राकृत कोष 'पाइयलच्छी– नाम– माला' की रचना भी जैन कवि धनपाल ने

विक्रम संवत् १०२९ में यहीं की थी व यहीं के निवासी प्रभाचन्द्र पंडित ने विक्रम संवत् १११२ के आसपास पुष्पदन्त के अपभ्रंश काव्यों पर टिप्पण लिखे थे। (देखो णायकुमारचरिउ, भूमिका)।

अतः सिद्ध हुआ कि प्रस्तुत सावयधम्मदोहा के कर्ता देवसेन हैं, उनकी रचना विक्रम संवत् ९९० के लगभग मालवा प्रान्त की धारा नगरी में हुई है तथा यह ग्रन्थ दोहा छंद का एक प्राचीनतम उदाहरण है।

३ ग्रन्थ का नाम, प्रचार, टीकाटिप्पनी व परम्परा.

इस ग्रन्थ का विषय श्रावकों का धर्म व आचार है। इस विषय के जैन ग्रन्थों का नाम प्रायः श्रावकाचार व उपासकाचार ही रक्खा जाता है। तदनुसार ही प्रस्तुत ग्रन्थ अधिकांश पोथियों में ' श्रावकाचार दोहक ' या ' उपासकाचार ' कहा गया है। किन्तु मूल ग्रन्थ में यह नाम कहीं नहीं पाया जाता। ' श्रावकाचार ' शब्द तक मूल ग्रन्थ में कहीं नहीं आया। ग्रन्थकर्ता ने प्रथम ही दोहे में इसे ' सावयधम्म ' कहा है व अन्त में (२२९ वां दोहा) इसे ' धम्मधेणु संदोहयं ' ' दोहों की धर्मधेनु ' कहा है। क. प्रति में ग्रन्थ का नाम ' दोहाबद्ध सावयधम्म ' दिया गया है। यही नाम कर्ता को अभीष्ट ज्ञात होता है। तदनुसार ही प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम ' सावयधम्म-दोहा ' रक्खा गया है।

जान पड़ता है गत शताब्दियों में इस ग्रन्थ का खूब अच्छा प्रचार रहा है, इसी से इसकी हस्तलिखित प्रतियां दिल्ली, आगरा, जयपुर, कारंजा व पूना में पाई गई हैं। कई प्राचीन लेखकों ने इसके सुंदर दोहे अपनी कृतियों में उद्धृत किये हैं। ' दोहा पाहुड* ' में इसका एक दोहा (२११) पाया जाता है। श्रुतसागर ने अपनी षट्प्राभृत टीका में इसके आठ दोहे (१०५, १०९-

---

* यह ग्रन्थ भी अपभ्रंश दोहों में है। शीघ्र ही इस ग्रन्थमाला से प्रकाशित करने का प्रबन्ध हो रहा है।

कह देना आवश्यक प्रतीत होता है कि यदि इसके कर्ता प्रभाचन्द्र नामधारी ही थे तो वे पुष्पदन्त के अपभ्रंश काव्यों पर टिप्पण लिखने वाले वे प्रभाचन्द्र नही हो सकते जिनका हम ऊपर उल्लेख कर आये हैं। प्रभाचन्द्र नामके अनेक मुनि और कर्ता हुए हैं (देखो 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार भूमिका पंडित जुगलकिशोर मुख्तार कृत, व जैनशिलालेखसंग्रह भाग १)। यह कृति कोई बहुत प्राचीन ज्ञात नही होती।

अब प्रश्न यह है कि इन दोहों की लक्ष्मीचन्द्रकृत 'पंजिका' कौनसी है। हमारा अनुमान है कि जो टिप्पण प. प्रति पर पाया जाता है वही यह पंजिका है। उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार टिप्पण और पंजिका में कोई बड़ा भेद ज्ञात नही होता।

अब हम पूर्वोक्त पोथियों की विशेषताओं पर से इस ग्रन्थ की परम्परा का कुछ अनुमान कर सकते हैं। देवसेनकृत मूल ग्रन्थ वि सं. ९९० के लगभग तैयार हुआ। आगामी पांच सौ वर्षों में इसकी तीन प्रकार की प्रतियां प्रचलित होगई। एक में कर्ता का नाम देवसेन पाया जाता था इसलिये हम इसे दे. प्रति कहेंगे। इसी पर से ह. अर्थात् हृदयनगर की वह प्रति तैयार हुई जिसमें ग्यारह दोहे और जुड़ गये तथा जिसपर से संवत् १७८० में हमारी क. प्रति तैयार हुई। दूसरी प्रति में परमात्मप्रकाश की भाषा व छन्द के साम्य पर से ग्रन्थ के कर्ता का नाम योगीन्द्रदेव जुड़ गया था। इसमें दोहों की संख्या २२४ थी। इसे हम यो. कहेंगे। इसी पर से हमारी अ. प्रति तैयार हुई होगी। हम कह चुके हैं कि अ. प्रति के पाठ क से बहुत कुछ मिलते हैं अतएव इसका ह. से भी कुछ सम्बन्ध ज्ञात होता है। तीसरी प्रति में दोहों की संख्या २२३ या २२४ थी किन्तु कर्ता का नाम कोई भी नही पाया जाता था इसे हम वि. प्रति कहेंगे। इस पर से हमारी पांच प्रतियां (अ, प, द, प २ और भ २) तैयार हुई प्रतीत होती हैं। प. प्रति गुजरात में मल्लिभूषण के शिष्य लक्ष्मण ने सं. १५५५ में लिखाई। आगे चलकर ये ही लक्ष्मण लक्ष्मीचन्द्रके नाम से मल्लिभूषण के उत्तराधिकारी

हुए। म. प्रति के अनुसार उन्होंने इस ग्रंथ की पंजिका बनाई जो प. प्रति पर का टिप्पण ही ज्ञात होता है।

हमारा अनुमान है कि म. प्रति वाले तीन अधिक दोहे भी लक्ष्मीचन्द्रजी के ही बनाये हुए हैं। इस प्रकार उनकी तैयार की हुई (ल.) प्रति में २२७ दोहे होगये, जिस पर से २२७ दोहों वाली हमारी तीन प्रतियां [म १, प ३, प ४] तैयार हुईं। म. प्रति में तीन अधिक दोहे हैं, योगीन्द्रदेव मूल ग्रन्थकार कहे गये हैं तथा २१९ वां दोहा नहीं है। अतः उसका सम्बन्ध ल. अ. और थ. तीन प्रतियों से था। इस परम्परा को हम वृक्ष द्वारा और भी स्पष्टता से व्यक्त कर सकते हैं। जिन प्रतियों के नाम के साथ * यह चिन्ह है वे अबतक मिली नहीं हैं।
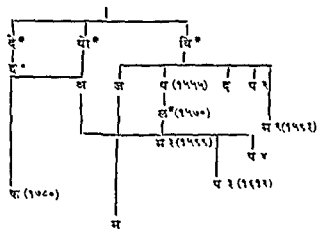
एक प्रश्न और है जिस पर भी यहां कुछ विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। दोहा नं. २२२ में जो कुछ कहा गया है उससे ज्ञात होता है कि उसके ऊपर के दोहों की संख्या मूलतः २२० थी। यद्यपि अ. प्रति में 'विसुत्तरइं' की जगह 'बावीसुत्तरइं' पाठ है पर वह स्पष्टतः कल्पित है। अब प्रश्न यह है कि वह कौन सा दोहा है जो मूल में नहीं था तथा जिसके कारण हमारे दोहों की संख्या २२० की जगह २२१ होगई है। जैसा ऊपर कह आये हैं, ज. और भ. प्रतियों में दोहा नं. २१९ नहीं है। क्या वही दोहा पीछे का जोड़ा हुआ है? वह दोहा इतना सुन्दर तथा ग्रंथकार की शैली के इतना अनुकूल है कि उसे प्रक्षिप्त मानने को जी नहीं चाहता यद्यपि दोहा नं. २२१ की प्रथम पंक्ति प्रायः वही होने से यह भी संभव जान पड़ता है कि वह प्रक्षिप्त हो। इसका यथार्थ निर्णय कर निकालना बड़ा कठिन है और इसकी कोई बड़ी आवश्यकता भी प्रतीत नहीं होती। भर्तृहरि आदि कृत शतकों में प्रायः सौ से अधिक ही दोहे पाये जाते हैं।

४ भाषा और व्याकरण.

प्रस्तुत ग्रन्थ धार्मिक उपदेश तथा सूक्ति की दृष्टि से तो सुन्दर है ही पर उसका और भी विशेष महत्व उसकी भाषा में है। जैन भंडारों की सूचियों में इस भाषा के ग्रन्थ प्रायः 'मागधी भाषा' के नाम से दर्ज किए हुए मिलते हैं किन्तु यह भाषा न तो मागधी है और न अन्य शौरसेनी आदि प्राचीन प्राकृत। किन्तु इन प्राकृतों ने प्रचलित देशी भाषाओं के पूर्व जो रूप धारण किया था वही इन ग्रन्थों में पाया जाता है। यह उनका विकसित या अपभ्रष्ट रूप है और इसी से इस भाषा का नाम अपभ्रंश या अवहट्ठ पड़ा। प्राकृत व अपभ्रंश भाषायें समय समय पर जनसाधारण की भाषायें रही हैं और इसीलिये वे अपने अपने समय में संस्कृत से भी अधिक मधुर और प्रिय गिनी जाती थीं। कर्पूरमंजरी के कर्ता राजशेखर

को संस्कृत और प्राकृत की रचना के माधुर्य में उतना ही अन्तर दिख
जितना पुरुषों की कर्कशता और स्त्रियों की सुकुमारता में। उन्होंने कहा

परुसा सक्कअबंधा पाउअबंधो वि होइ सुउमारो।
पुरुसमहिलाणं जेत्तिअमिहंतरं तेत्तिअमिमाणम्॥

[कर्पूर- १, ८

विद्यापति ठक्कुर को देशी अर्थात् अपभ्रंश भाषा माधुर्य में
व प्राकृत दोनों से बढ़ी चढ़ी दिखने लगी थी। उन्होंने अपनी 'कीर्ति
में कहा है—

सक्कअवाणी बहुअ न भावइ
पाउअ रस को मम्म न पावइ।
देसिलवअना सब जन मिट्ठा
तें तैसन जम्पओ अवहट्ठा॥

१०. वीं ११ वीं शताब्दि के लगभग यही भाषा समस्त
भारत में प्रचलित थी किन्तु देश भेद के अनुसार उसमें भेद थे।
ग्रन्थ मालवा प्रान्त में लिखा गया है अतएव इसमें पश्चिम देश की अ
भाषा पाई जाती है जिसका व्याकरण हेमचन्द्राचार्य ने अपनी प्राकृत
रण में अपनी शाह, सूत्र उदाहरणों सहित, दिया है। हमने 'भवि
चरिउ' की भूमिका में इस भाषा के व्याकरण का सविस्तार परिचय
है, किन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ के पठन पाठन की सुविधा के लिये इसी ग्रन्थ
कुछ व्याकरण यहां भी दिया जाता है।

हिन्दी भाषा के साहित्य व इतिहास में इस भाषा के
क्या स्थान है यह प्रगट करने के लिये हिन्दी साहित्य के तीन प्रवर्तक
—पृथ्वीराजरासो, पद्मावत और रामायण—से इसकी कुछ
से यहां तुलना की जाती है—

१. कीर्तिलता में मैथिल देश का अपभ्रंश है जो मागधी प्राकृत से निकला हुआ है अत: उसमें न, श और ष, वर्ण तथा प्र, द्र आदि संयुक्ताक्षर पाये जाते हैं। सावयधम्म का अपभ्रंश महाराष्ट्री प्राकृत का है अत उसमें इन वर्णों का अभाव है।

२. कीर्तिलता में शब्दों के बीच में आये हुए अल्पप्राण वर्णों–क, ग, च, ज आदि– का बहुधा लोप नहीं हुआ। सावयधम्म में अधिकतर हुआ है और उनके स्थान पर कहीं कहीं य श्रुति पाई जाती है।

३. कीर्तिलता में परसर्गों का बहुत सूक्ष्म प्रादुर्भाव हुआ दिखाई देता है और प्राकृत विभक्तियां प्राय उड गई हैं। वीसलदेवरासो व पृथ्वीराजरासो में कहीं कहीं परसर्ग और कहीं कहीं संयोगात्मक विभक्तिरूप, प्रायः दोनों अवस्थायें पाई जाती हैं। सावयधम्म में विभक्तियां कायम हैं यद्यपि उनकी जड़ उखड़ चली है। किन्तु परसर्ग का विकाश केवल षष्ठी के साथ 'तण', व सप्तमी के बोध के लिये 'मज्झि' में कुछ २ दिखाई देता है।

४. उक्त तीनों ग्रन्थों में मुसलमानी भाषा के संसर्ग का प्रभाव है जैसा कि चन्द वरदाई ने स्पष्टरूप से स्वीकार किया है—

'षट् भाषा पुराणं च कुरानं कथितं मया।'

प्रस्तुत ग्रन्थ में मुसलमानी संसर्ग की गंध तक नहीं है। उसमें पुराण खूब है कुरान बिलकुल नहीं।

अपभ्रंश भाषा के ग्रन्थ का अनुवाद करने में मुझे एक और बात का अनुभव हुआ जिसे यहां प्रकट कर देना उचित जान पड़ता है। संस्कृत के अनेक क्रियापद ऐसे हैं जो अपभ्रंश में पाये जाते हैं और ब्रजभाषा आदि पुरानी हिन्दी में भी बहुत कुछ प्रचलित थे किन्तु जो प्रचलित खड़ी बोली में से लुप्त होगये हैं। उनका अर्थ व्यक्त करने के लिये अब हमें उनके मूलक्रिक कृदन्त व विशेषण या संज्ञायें बनाकर 'होना' व 'करना' क्रिया के साथ उनका उपयोग करना पड़ता है। उदाहरणार्थ—

संस्कृत	अपभ्रंश	पुरानी हिन्दी	प्रचलित रूप
नमति	णमइ	नमता है	नमन करता है
नश्यति	णासइ	नसता है	नष्ट होता है
प्रकाशते	पयासइ	प्रकाशता है	प्रकाशित होता है
मलिनायते	मइलेइ	मैलता है	मैला होता है
भक्षति	भक्खइ	भखता है	भक्षण करता है
धारयति	धारइ	धारता है	धारण करता है
प्रकटयति	पयडइ	प्रकटता है	प्रकट होता है।

ऐसे उदाहरण अनन्त हैं। यह मुझे भाषा में उन्नति की जगह अवनति का लक्षण दिखता है। क्रियाओं का क्षेत्र घटना नहीं बढ़ना चाहिये था। मेरी समझ में ऐसे क्रियापदों का हिन्दी में प्रयोग प्रारंभना चाहिये।

व्याकरण

१. सावयधम्म की अपभ्रंश भाषा में देवनागरी वर्णमाला के स्वरों में ऋ, ऐ व औ तथा व्यञ्जनों में ङ, ञ, श और ष को छोड़ कर शेष सब वर्ण पाये जाते हैं। न की स्थिति कुछ अनिश्चित सी दिखती है। अधिकत. उसके स्थान पर ण ही मिलता है। प्रस्तुत संस्करण में सर्वत्र ण ही रखा गया है।

उपर्युक्त वर्णों के स्थान में निम्न लिखित आदेश होते हैं।

ऋ के स्थान में अ, इ उ या रि। यथा, कय-कृत, घय-घृत, अमिअ-अमृत, किविण-कृपण, घिय-घृत, मुअ-मृत, रिसि-ऋषि इत्यादि.

ऐ के स्थान में इ, यथा, विआवच्च-वैयावृत्य.

औ के स्थान में ओ या अउ। यथा, ओसह-औषध, चोर-चौर, मउण-मौन।

सम्प्रदान	हु	णरयहु, गोत्तहु, तिरियगहु.	हं	पणइं, भोयइं, भोगइं.
	हि	मुणिहि.		
अपादान	हु	पावहु.	हं	दंसुवाइं.
सम्बन्ध	हु	जुयहु, तिमिरहु	हं	जोरहं, वणयाइं,
	हि, हिं	सुरिंहि, समिरिहि, गणिहिं.		कायइं, पंथाइं.
अधिकरण	इ	जगि, मणुयम्मि, अंभाइं, सोइ, घरि.	इं	सारयाइं, गुरुइं.
सम्बोधन	अ	जिय, वड, णिउण.		

आकारान्त व ईकारान्त स्त्रीलिंग शब्द बहुधा ह्रस्वान्त कर दिये जाते हैं, यथा, दय-दया, कह-कथा, वेयण-वेदना, भेरि-भेरी.

> किन्तु वेसा, चोरी इत्यादि भी पाये जाते हैं। कर्ता व कर्म कारक में ये प्रकृतरूप ही रहते हैं। शेष कारकों में पुलिंग से कोई बड़ी विशेषता नहीं पाई जाती।

नपुंसक लिंग का लोप सा होता हुआ दिखता है। शेष कारकों में तो इनका कोई विशेष चिह्न दिखाई नहीं पड़ता पर कहीं कहीं कर्ता बहुवचन में ये पहिचान पड़ते हैं, यथा, वराणइं, सिक्खावयइं.

३. सर्वनाम

कर्ता	हउ (अहम्, मैं हूं), कोइ, सोइ, सो, ज तं (नपुं) एहु, एहो, एउ
कर्म	जं, तं.
करण	पइं (त्वया, तूने), जेण, तेण.
सम्प्रदान	पइं (तुभ्यम्, तुझको), तहु.
सम्बन्ध	जसु, तासु, ताहं.

४. संख्यावाचक

संख्यावाचक	पूरणार्थक
१ एक्क	पढमउ, पहिलउ
२ दुण्णि, बिण्णि	बीयउ, बिदिउ.
३ तिण्णि	तिज्जउ
४ चयारि	चउत्थु
५ पंच	पंचमु
६ छह	छट्ठउ
७ सत्त	सत्तमु
८ अट्ठ	अट्ठमु
९ णव	णवमउ
१० दस	दसमउ
११ एयारह	एयारहमउ
१२ बारह	

५. क्रियापद

क्रियाओं में परस्मैपद आत्मनेपद व भ्वादि अदादि का कोई भेद नहीं रहा। द्विवचन बहुवचन में गर्भित हो गया है।

वर्तमानकाल

	एकवचन प्रत्यय	एकवचन उदाहरण	बहुवचन प्रत्यय	बहुवचन उदाहरण
उत्तम पु.	मि, उं	अच्छमि, करउं.	...	...
मध्यम पु.	हि, सि	अच्छहि, करहि, जाहि, होसि.	...	...
अन्य पु.	इ	होइ, पिउइ, धाइ, करइ, वंदइ, पालइ, पियइ, हुणइ.	अंति, अइं	अंति, विचरंति, हुंति, हवंति लिंति, भणंति. इच्छअइं.

सावयधम्मदोहा

ॐ

णमक्कारेप्पिणु पंचगुरु दूरिदलियदुहकम्मु ।
संखेवें पयडक्खरहिं अक्खमि सावयधम्मु ॥ १ ॥

दुज्जणु सुहियउ होउ जगि सुयणु पयासिउ जेण ।
अमिउ विसें वासरु तमिण जिम मरगउ कच्चेण ॥ २ ॥

जिह सामिलेहिं सायरगयहिं दुलहउं जूयहुं रंधु ।
तिह जीवहं भवजलगयहं मणुयत्तणि संबंधु ॥ ३ ॥

गुरु सारउ मणुयत्तणहं तं गुरु धम्मायत्तु ।
धम्मु वि रे जिय तं करहि जं अरहंतहं वुत्तु ॥ ४ ॥

अरहंतु वि दोसहिं रहिउ जसु पुणु केवलणाणु ।
णाणेंमुणियतिकालपयइं वयणु वि तासु पमाणु ॥ ५ ॥

---

१ द. अविकाय. २ क. अमइं; ज. द. समहिं. ३ द. मरगय. ४ ज. जइ. ५ क. ज. द. सलिला. ६ ब. सायर ७ ज. दुलहउ. ८ क. जूयइ; द. जूयहिं. ९ ज. तह १० ज. ॰गयहिं. ११ क. मणुयत्तणु १२ ब. द. करहि. १३ ज. वहि १४ ब. द. अरहंतें. १५ ब. द. णाणु वि. १६ ब. ज. णाणु १७ क. द. तस्स.

६. (गुरु) यह जिनवर का वचन गुरु के उपदेश से प्रकट होता है। अंधकार में बिना दीपक के क्या कोई कुछ पहिचान सकता है?

७. (गुरु के गुण) जिस सूरि में संयम, शील, शौच और तप है वही गुरु है। दाह, छेद और कश-घात के योग्य ही उत्तम कंचन होता है।

८. (गुरूपदेश) गुरु के उपदिष्ट मार्ग से नर शिवपुर को जाते हैं। उसके बिना वे व्याघ्र, वनचर और चोरों के पिंड में पड़ जाते हैं।

९. (श्रावक धर्म) यह श्रावक धर्म, हे जीव, ग्यारह प्रकारका कहा गया है। शास्त्रानुसार उसका परिपालन करने वालों का मनुष्य-जन्म सफल है।

१०. (दर्शन) जिसके पंच उदुम्बर से निवृत्ति है, व्यसन एक भी नहीं है तथा जिसकी मति सम्यक्त्व द्वारा सुविशुद्ध है, वह प्रथम श्रावक है।

११. (व्रत) जो पांच अणुव्रतों को धारण करता है और जिस के तीन निर्मल गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत हैं उसे मनमें दूसरा [श्रावक] मानो।

१२. (सामायिक) जो पूर्वाचार्यों के क्रमानुसार बत्तीस दोषों से रहित होकर तीनों संध्याओं में जिनेंद्र की वन्दना करता है वह नियम से तीसरा [श्रावक] है।

तं पायडु जिणवरवयणु गुरुउवएसें होइ ।
अंधारइं विणु दीवडेंइं अहव कि पिछइ कोइ ॥ ६ ॥

संजमु सीलु सउच्चु तउ जसु सूरिहि गुरु सोइ ।
दाहछेयकसघायखमु उत्तमु कंचणु होइ ॥ ७ ॥

भग्गइं गुरुउवएसियइं णर मिच्छट्टणि जंति ।
तें विणु वग्घहं वणयरहं चोरहं पिडि णिवडंति ॥ ८ ॥

एयारहविहु तं कहिउ रे जिय सावयधम्मु ।
सत्तिए परिपालंतयहं सहलउ मणुसजम्मु ॥ ९ ॥

पंचुंबरहं णिवित्ति जसु पेसुणु ण एक्कु वि होइ ।
सम्मत्तें सुविसुद्धमइं पढमउ सावउ सोइ ॥ १० ॥

पंचाणुव्वय जो धरइ णिम्मल गुणवय तिण्णि ।
सिक्खावयइं चयारि जसु सो बीयउ भणि भण्णि ॥ ११ ॥

पडिमइं दोसहं रहिउ पुव्वाइरियकमेण ।
जिणु वंदइ संझइ तिहि वि सो तिज्जउ णियमेणं ॥ १२ ॥

---

१ अ ब द उवएसें. २ द दीवएण. ३ अ द रि. ४ ब द चोर. ५ अ पढ्डइ णासइ मणुसगुण ६ अ विण ७ अ ब आराहणिज्ज. ८ अ °म्मु ९. द धम्म गुण १० द सिक्खमणि

६. यह जिनवर का वचन गुरु के उपदेश से प्रकट होता है। अंधकार में बिना दीपक के क्या कोई कुछ पहिचान सकता है?

गुरु

७. जिस सूरि में संयम, शील, शौच और तप है वही गुरु है। दाह, छेद और कस-घात के योग्य ही उत्तम कंचन होता है।

गुरु के गुण

८. गुरु के उपदिष्ट मार्ग से नर शिवपुर को जाते हैं। उसके बिना वे व्याघ्र, वनचर और चोरों के पिंड में पड़ जाते हैं।

गुरूपदेश

९. यह श्रावक धर्म, हे जीव, ग्यारह प्रकारका कहा गया है। शास्त्रानुसार उसका परिपालन करने वालों का मनुष्य-जन्म सफल है।

श्रावक धर्म

१०. जिसके पंच उदुम्बर से निवृत्ति है, व्यसन एक भी नहीं है तथा जिसकी मति सम्यक्त्व द्वारा सुविशुद्ध है वह प्रथम श्रावक है।

दर्शन

११. जो पांच अणुव्रतों को धारण करता है और जिस के तीन निर्मल गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत हैं उसे मनमें दूसरा [श्रावक] मानो।

व्रत

१२. जो पूर्वाचार्यों के क्रमानुसार बत्तीस दोषों से रहित होकर तीनों संध्याओं में जिनेंद्र की वन्दना करता है वह नियम से तीसरा [श्रावक] है।

सामायिक

तं पायडु रि
अंधारई विए
संजमु सीलु
दाइछेयकस
मग्गई गुरू
तं विणु पा
एयारहविहु
गलिए परि
पंचुंबरई वि
गंम्मनें गुरा
पंचाणुव्वय
सिक्खावय
पडउगई दं
जिणु वंदइ

१ (
४ अ. द. थां
७ अ. क. अं
१० ई. जिनय

उत्तमउत्तमिजलमिहिं जो पालइ उववासु ।
सो चउत्थु सावउ भणिउ दुक्खियकम्मविणासु ॥ १३ ॥

पंचमु जमु कचामगइं हरियइं णाहि पविचि ।
मणवयकायहिं छट्ठयहं दिवसहिं णारिणिवित्ति ॥ १४ ॥

बंभयारि सत्तमु भणिउ अट्ठमु चत्तारंभु ।
मुक्कारिंगहु जाणि जिय णवमउ वज्जियदंभु ॥ १५ ॥

अणुमइ देइ णं पुच्छियउ दसमउ जिणउत्तरइ ।
एयारहमउ तं दुविहु णं वि भुंजइ उद्दिट्ठु ॥ १६ ॥

एयहत्थु पहिलउं विदिउ कचकोवीणपरीवि ।
कत्तरिलोयणिहियचिहुर सई पुणु भोजणविधि ॥ १७ ॥

ए ठाणइं एयारसइं सम्मत्तें मुक्काइं ।
हुंति ण पउमइं सरवरहं विणु पाणिय मुक्काइं ॥ १८ ॥

अत्तागमतच्चाइयहं जं णिम्मलु सद्धाणु ।
संकाइयदोसहं रहिउ तं सम्मत्तु वियाणु ॥ १९ ॥

१ अ. द. °ढंभु. २ अ. पु. ३ द. णउ. ४ द. पहर.
५ अ. द. एयारहं रि. ६ क. द. प. णिम्मलु सद्दाणु

संकाइय अट्ठ मय परिहरि मूढा तिण्णि ।
जे छह कहिय अणायतण दंसणमल अवगण्णि ॥ २०

सुणि दंसणुं जिय जेण विणु सावयगुणु ण हुं होइ ।
जह सामग्गिविवज्जियहं सिज्झइ कज्जु ण कोइ ॥ २१ ॥

मज्जु मंसु महु परिहरहि करि पंचुंवर दूरि ।
आयंहं अंतरि अट्ठंहं मि तस उप्पज्जंइं भूरि ॥ २२ ॥

महु आसायउं थोडंउ वि णासइ पुण्णु बहुत्तु ।
वइसाणरहं तिडिक्केडउ काणणु डहइ महंतु ॥ २३ ॥

अंण्णुवइट्ठइं मण्णियइं महु परिहरियउ होइ ।
जं कीरइ तं कारियइ एहु अहाणउ लोइ ॥ २४ ॥

सैव्वइं कुसुमेंइं छंडियइं केरि पंचुंवरचाउ ।
हुंति विमुक्कइं मंडणइं जइ मुक्कउ अणुराउ ॥ २५ ॥

---

१ अ. क. प. परिहर. २ ज. दंसणि; अ. क. द. दंस
३ अ. क. वि. ४ द. आयहिं. ५ अ. क. अट्ठमि हि. ६ अ.
द. उप्पज्जहिं. ७ अ. क. आसाइइ. ८ अ. क. थोवड वि. ९
द. तिडिकाउ वि. १० अ. द. अणु उवइट्ठइं; प. अणउवइ
११ अ. क. ज. द. सगाइं. १२ द. कुसुमिय. १३ अ. क. ज.
पंचुवरपरिचाउ.

२०. दोष, मद, मूढ़ता और अनायतन — शंकादिक आठ (दोष), आठ मद और तीन मूढ़ता का परिहार करो। जो छह अनायतन कहे गये हैं उन्हें (सम्यग) दर्शन के मैल जानो।

२१. सम्यग्दर्शन — हे जीव, (सम्यग) दर्शन को सुनो जिसके बिना श्रावक का गुण नहीं होता। जैसे सामग्री से विपजित मनुष्य का कोई भी कार्य नहीं सधता।

२२. अष्टमूलगुण — मद्य, मांस, मधु का परिहार करो, पंच उदुम्बर दूर करो। इन आठों के अन्दर बहुत त्रस (जीव) उत्पन्न होते हैं।

२३. मधु — मधु थोड़ासा भी खाया हुआ बहुतसे पुण्य का नाश कर देता है। अग्नि का छोटासा तिनिका भी बड़े भारी वन को दहा देता है।

२४. मधुत्याग — दूसरों को उपदेश देने व स्वयं मानने से मधु का परिहार होता है। जैसा (स्वयं) करता वही (दूसरों से) कराता है यह कहाना लोक में है

२५. उदुम्बर त्याग — सब फलों को छोड़कर पंच उदुम्बर का त्याग क यदि अनुराग छूट गया तो अलंकार छूट जाते हैं।

अट्ठइं पालइ मूलगुण पियइ जिं गालिउ णीरु ।
अह चित्तें सुविसुद्धइण मुचइ सव्वु सरीरु ॥ २६

जेण अगालिउ जलु पियउ जाणिज्जइ ण पमाणु ।
जो पुणं पियइ अगालियउ सो धीवरहं पहाणु ॥

आमिससरिसउ भासियउ सो अंधउ जो खाइ ।
दोहि मुहुत्तहं उप्परहिं लोणिउ सम्मुच्छाइ ॥ २

संगें मज्जामिसरयहं मइलिज्जइ सम्मत्तु ।
अंजणगिरिसंगें ससिहिं किरणइं काला हुंति ॥

अच्छउ भोयणु ताहं घरि सिद्धहं वयणु ण जुत्तु ।
ताहं समउ जें कारणइं मइलिज्जइ सम्मत्तु ॥ ३०

तामच्छउ वंढमंडयहं पक्कासणलित्ताहं ।
हुंति ण जुग्गइं सावयहं वहं भोयणु पत्ताहं ॥

चम्मच्छइं पीयइ जलइं तामच्छउ दूरेण ।
दंसणसुद्धि ण होइ तसु खद्धइ घियतिल्लेण ॥ ३२

रुहिरामिसचम्मट्ठिसुर पच्चक्खउं बहुजंतु ।
अंतराय पालेउं भविय दंसणसुद्धिणिमित्तु ॥ ३३

---

१ अ. अट्ठउ. २ ज. द जु. ३ क. द. सव्व
द. सं. ५ क. मयलिज्जइ. ६ ज तहं तंडयहं. अ
भंडयहं. ७ अ. क. होंति. ८ ज. द. पक्कलित्तउ. ९ ज
१० क. ॰मइंतु.

२६. चित्तशुद्धि — आठों मूलगुणों का पालन करे और गाला (छाना) हुआ जल पिये। चित्त के विशुद्ध होने से सब शरीर शुद्ध हो जाता है।

२७. बिना छना पानी — जिसने बिना छना पीना पिया उसने प्रमाण नहीं जाना। जो बिना छना पीता है वह धीवरों में प्रधान है।

२८. मक्खन — दो मुहूर्त के ऊपर लोनी (मक्खन) में सम्मूर्छन जीव उत्पन्न हो जाते हैं। (इसलिये) वह मांस सदृश कहा गया है। वह अंधा है जो खाय।

२९. मद्यमांसभोजीका संग — मद्यमांस में रत रहने वालों के संग से सम्यक्त्व मैला हो जाता है। अंजनगिरि के संग से चन्द्र की किरणें भी काली हो जाती हैं।

३०. मद्यमांसभोजियों का परिहार — उनके घर में भोजन करना तो रहा दूर लोगों को उनसे बात भी नहीं करना चाहिये, क्योंकि उनके संग से सम्यक्त्व मैला हो जाता है।

३१. पक्व भोजन करने वाले तप से मंडित (मुनि) तो दूर रहे उनका भोजन पात्र श्रावकों के भी योग्य नहीं है।

३२. चर्माच्छादित जल, घृत, तैल — जो चर्माच्छादित जल पीता है उसकी तो दूसरी बात है, दर्शन शुद्धि तो उसके भी नहीं होती जो (घी से) घी-तेल सहित खाता है।

३३. अंतराय योग्य वस्तुएं — रुधिर, मांस, चर्म, अस्थि और मुरा ये प्रत्यक्ष में ही बहुत जंतुपूर्ण हैं। हे भव्य दर्शनशुद्धि के [illegible] इनका अन्तराय पालो।

मूल उंबरी-भिंग-मडुण-गुंदह-कन्द कलिंगु ।
थाण फुल्लन्धाणयहि मउ गमिं दंसणभंगु ॥ ३४ ॥

अण्णु वि गुलल्लिउ फुल्लियउ तायहुं चालियउ जं वि ।
दोदिणवासियउ दहिमहिउ ण हु भुंजिज्जइ तं वि ॥ ३५ ॥

वेदलमीसिउ दहिमहिउ गुणु ण सावय होइ ।
तहइं दंसणभंगु पर सम्मतु वि मइलेइ ॥ ३६ ॥

तंबोलोसहु जलु मुइवि जें अत्थमियइं सूरि ।
भोग्गासणु फलु अहिलसिउं तें किउ दंसणु दूरि ॥ ३७ ॥

जूएं धणहु ण हाणि पर वयइं मि होइ विणासु ।
लग्गउ कट्ठु ण डहइ पर इयरहं डहइ हुयासु ॥ ३८ ॥

जइ देसवउ छड्डियउं ता जिय छड्डिउ जूउं
अह अग्गिहिं उल्हावियइं अवसें ण उट्ठइ धूउ ॥ ३९ ॥

दय जि मूलु धम्मंघिवहु सो उप्पाडिउ जेण ।
दलफलकुसुमहं कवण कह आमिसु भक्खिउ तेण ॥ ४० ॥

---

१ अ. क विस. २ क भक्खु ण ३ ज. दंसणि. ४ अ. ज. द. अणु. ५ ज. द सुलल्लिउ. ६ अ. क. सायहं. ७ द. दिणि. ८ ज. द. जो. ९ अ भुंगासणु; क. द. पुग्गासणफलु. १० ज. द. अहिलसइ. ११ अ जूयें. १२ अ क जइ छंडिउ वउ देसियउ. १३ क. ता छंडिउ तुहुं जूउ. १४ अ. क. अवसि.

३४. मूली, उनाली (?), बिम (कमलतन्तु), लहसुन, तुंबा, करट, कालिंग, सूरण व फूलस्थानों के भक्षण से दर्शन भङ्ग होता है।
मूली आदि अभक्ष्य

३५. अन्य भी जिसमें जड़ें निकल आई हों, व फूल आगये हों व जो स्वाद से चलित होगया हो, व दो दिन का बासा दही मही भी नहीं खाना चाहिये।
अन्य अभक्ष्य

३६. द्विदलमिश्रित दही मही श्रावकों के योग्य नहीं होता। इसके खाने से दर्शन का भङ्ग और सम्यक्त्व मैला होता है।
द्विदल

३७. ताम्बूल, औषध और जल को छोड़कर, सूर्यास्त के पश्चात् जिसने भोजन या फलाहार की अभिलाषा की उसने दर्शन को दूर कर दिया।
रात्रिभोजन

३८. जुआ से धन ही की हानि नहीं होती पर मनों का भी विनाश होता है। अग्नि केवल जिस काठ में लगे उसे ही नहीं जलाती किन्तु दूसरों को भी जला देती है।
द्यूत

३९. यदि वेश्या तक छोड़ दिया तो, हे जीव, द्यूत सचमुच छूटा। अग्नि के जलने शान्त कर देने पर अवश्य धुंआ नहीं उठता।
द्यूतत्याग

४०. दया ही धर्मवृक्ष का मूल है। इसे जिसने उखाड़ डाला उसने मूल, फल, कुसुम की कौन कथा, मांस भक्षण कर लिया।
दया

४१. मांसत्याग — मृगमांस यदि छोड़ दिया तो, हे जीव, मांस छोड़ा। जैसे अपथ्य के निवारण से व्याधिप्रवेश का निवारण हो जाता है।

४२. मद्यदोष — बार बार लिख लिख कर इस सूत्र को सुनो। मद्य का यह दोष है कि मत्त (पुरुष) अपनी बहिन की भी अभिलाषा करने लगता है इससे उसका नरक में प्रवेश होता है।

४३. मद्यत्याग — मद के छोड़ देने से मद्य भी छूट जाता है और वेश्या भी छूट जाती है, जिस प्रकार कि व्याधि के निवारण हो जाने से एक भी वेदना नहीं रहती।

४४. वेश्यादोष — धनिकों का धन वेश्या में लगता है। बंधु मित्र सब छूट जाते हैं। वेश्या के घर प्रवेश करने वाला नर सब गुणों से मुक्त हो जाता है।

४५. वेश्यात्याग — कामकथा के परित्याग से, हे जीव, दारिका (वेश्या) का भी परित्याग हो जाता है। कंद के उपाट देने पर वेला के पत्र समाप्त हो जाते हैं (स्वयं सूख जाते हैं)।

४६. आखेटदोष — शिकारी बड़ा निर्दयी है जो भय से भागे हुए, जीभ में तृण दबाये हुए (मृगों) का वध करता है। इससे वह नरक को जाता है।

४७. आखेटत्याग — यदि शिकार खेलना छोड़ दिया तो कुत्ता बिल्ली आदि भी छूट गये। बीज में पानी , रोक कर देने से अंकुरलब्धि का अवरोध है।

चोरी चोर हणेइ पर बहुयकिलेसहं खाणि ।
देइ अणत्थु कुडुंबहं मि गोत्तहुं जसधणहाणि ॥ ४८ ॥

मुक्कहं कूडतुलाइयहं चोरी मुक्की होइ ।
अह व वणिज्जइं छंडियइं[3] दाणु ण मग्गइ कोइ ॥ ४९ ॥

परतिय बहुबधण ण परं अण्णु वि णरयणिसेणि ।
विसकंदलि घारइ णं पर करइ वि पाणहं हाणि ॥ ५० ॥

जइ अहिलासु णिवारियउ ता वारिउ परयारु ।
अह णाइकें जित्तएणं जितउ सयलु खंधारु ॥ ५१ ॥

वसणइं तावइं छंडि जिय परिहरि[9] वसणासत्तें ।
सुक्कहं संसग्गें हरिय पेक्खह तरु डज्झंतें ॥ ५२ ॥

मूलगुणा इय एलहइ[13] हियवइ थक्कइं जासु ।
धम्मु अहिंसा देउ जिणु रिसि गुरु दंसणुं तासु ॥ ५३ ॥

---

१ अ. द. कुडंबह. २ अ. क. गोत्तिहु. ३ क छंडियइं. ४ 'बहुबंधणणयर' भी पाठ हो सकता है । ५ क. णिरय°. ६ ज. णि ७ अ. क. इयौं तायहं जिसियहं. ८ ज. द. ताव छंडउ जिय. ९ अ. परिहर. १० अ. क. प. वसणासत्ति. ११ अ. क. सुक्कइं. १२ क. द. डज्झंति. १३ अ. द. इलहउ, क. उलहउ. १४ क. थक्कउ. १५ द. दंसण.

इक्कु वि तारइ भवजलहि देहु दायारु सुपत्तु ।
सुपरोहणु एक्कु वि वहुय दीसइ पारहु णिंतु ॥ ८५ ॥

दाणु कुपत्तहं दोसडइ बोल्लिज्जइ ण हु भंति ।
पत्थरु पत्थरणाव कहिं दीसइ उत्तारंति ॥ ८६ ॥

जइ गिहत्थु दाणेण विणु जगि पमणिज्जइ कोइ ।
ता गिहत्थु पंखि वि हवइ जें घरु ताह वि होइ ॥ ८७ ॥

धम्मु करेउं जइ होइ धणु इहु दुव्वयणु म बोल्लि ।
हक्कारउ जमभडतणउ आवइ अज्जु कि कल्लि ॥ ८८ ॥

काइं बहुत्तइं संपयें जइ किविणहं घरि होइ ।
उवहिणीरु खारें भरिउ पाणिउ पियइ ण कोइ ॥ ८९ ॥

पत्तहं दिण्णउ थोवडेउ रे जिय होइ बहुत्तु ।
वडह बीउ धरणिहिं पडिउ वित्थरु लेइ महंतु ॥ ९० ॥

धम्मसरूवें परिणवइ थाउ वि पत्तहं दिण्णु ।
साइजलु सिप्पिहिं गयउ मुत्तिउ होइ रवण्णु ॥ ९१ ॥

---

१ द. तारइ तीर. २ क. में यह दोहा नहीं है. ३ अ. ज. द हवहि. ४ अ. क. करहुं. ५ अ. क. संपयइं. ६ ज. द. आ, ७ ज. द. सायरणीरु खारें भरिए. ८ अ. पियइ ९ अ. द. थोअडउ. १० ज. द. वित्थरिय. ११ अ. क. रवण्णइं.

८५. एक ही सुपात्र अनेक दातारों को भवसमुद्र से पार देता है। अच्छी एक ही नौका बहुतों को पार लगाती देखी जाती है।

सुपात्रदान की महिमा

८६. कुपात्र का दान दोष पूर्ण कहा गया है इसमें भ्रान्ति नहीं। पत्थर की नाव पत्थर को पार उतारती कहाँ देखी गई है?

कुपात्रदान का दोष

८७. यदि दान के बिना भी जगत् में कोई गृहस्थ कहलाये तो पक्षी भी गृहस्थ होगया क्योंकि घर तो उसके भी होता है।

दान के बिना गृहस्थ नहीं

८८. 'यदि धन होजाय तो धर्म करूं' ऐसे दुर्वचन मत बोल। यमदूत का हल्कारा आज आजाय कि कल।

मौत का अनिश्चय

८९. बहुत सम्पत्ति से भी क्या यदि वह कृपण के घर हुई। समुद्र का जल खार से भरा है। उसका पानी तक कोई नहीं पीता।

कृपण की सम्पति

९०. हे जीव, पात्र को दिया हुआ थोड़ा भी बहुत होता है। वट का बीज भूमि में पड़कर भारी विस्तार ले लेता है।

पात्रदान थोड़ा भी बहुत है

९१. पात्रको दिया हुआ दान धर्म स्वरूप परिणमित होता है। स्वातिजल सीप में पड़कर रमणीय मोती बन जाता है।

जं दिज्जइ तं पावियइ एंउ ण वयणु विसुद्धु ।
गाइ पंइण्णइ खडभुसइं किं ण पयच्छइ दुद्धु ॥ ९२ ॥

जो घरि हुंतइं धणकणइं मुणिहि कुभोयणु देइ ।
जम्मि जम्मि दालिद्दडउ पुट्ठि ण तहु छंडेइ ॥ ९३ ॥

कहिं भोयण सहुं मिट्टडी दिण्णु कुभोयणु जेण ।
हुंतइं धीयइं घरि पउर वविय बयूलइं तेण ॥ ९४ ॥

जं जिय दिज्जइ इत्थुभवि तं लब्भइ परलोइ ।
मूलें सिंचइ तरुवरहं फलु डालेंहं पुणु होइ ॥ ९५ ॥

पत्तइं दाणइं दिण्णइण मिच्छादिट्ठि वि जंति ।
उत्तमाइं भोयावणिहिं इच्छिउं भोउ लहंति ॥ ९६ ॥

कम्मुं ण खेत्तिय सेव जहिं णउ वाणिज्जपयासु ।
घरि घरि दस कप्पयर जहिं ते पूरेंहिं अहिलासु ॥ ९७ ॥

किं किं देइ ण धम्मतरु दाणसलिलसिंचंतु ।
जइ मिच्छत्तहुयासणहु रक्खिज्जइ डज्झंतु ॥ ९८ ॥

---

१ अ. क. पइउ वयणु विरुद्धु. २ ज. पयणइं. ३ ज. द. सिहु. ४ अ. क. भेटडी. ५ क. डालहु ६ क. दिण्णइं दाणइण. ७ ज. °हिं. ८ अ. क भोयपाणि वि. ९ क. इच्छिय भोय. १० अ. क. कम्म. ११ क पूरइं; ज. पूरिहिं.

धम्मु करंतहं होइ धणु इत्थु ण कायउं भंति ।
जलु कईंतहं कूवयहं अवसइं सिरउ घंडंति ॥ ९९ ॥

धम्महु धणु पॅरिहोइ थिरु विग्पइं विहडिवि जंति ।
अह सरवरु अविणेंइं रहिउ फुट्टिवि जाइ तडत्ति ॥ १०० ॥

धर्म्मे सुहु पावेण दुहु एउं पसिद्धउ लोइ ।
तह्मा धर्म्मुं समायरहि जें हियईंछिउ होइ ॥ १०१ ॥
धर्म्मे जाणँहिं जंति णर पावें जाण वहंति ।
धरयर गेहोवरि चर्डहिं कूवखणये तलि जंति ॥ १०२ ॥

धर्म्मे इक्कु वि बहु भरइ सइं सुक्खियउ अहम्मु ।
वड बहुयेंहं छाया करइ तालु सहइ सइं घर्म्मु ॥ १०३ ॥
काइं बहुत्तइं जंपियइं जं अप्पहु पडिकूलु ।
काइं मि परहु ण तं करहि एहु जि धम्महु मूलु ॥ १०४ ॥

सत्यसएणें वियाणियहं धम्मु ण चढेइं मणे वि ।
दिणयरसउ जइ उग्गमेंइं घूयेंडु अंधउ तो वि ॥ १०५ ॥

---

१ अ. क. काइं म भंति; द काइं मणंति. २ ज. घहंति; द. घडुंति. ३ अ. क. परहोइ. ४ अ. अविणय. ५ अ. क. एहु. ६ क. धम्म समायरह जिह हियइच्छिय. ७ अ. क. द जाणहं; ८ द. ण. हुंति. ९ क. खणे. १० अ. क. द. बहुयइं. ११ ज. घुम्मु; १२ ज. °सपर्हि. १३ द. चडइ. १४ अ. उग्गमहि. १५ अ. क. घूयउ.

९९. धर्म करने वालों के धन होगा है इसमें भ्रान्ति न करना चाहिये। कूप से जल काढ़ने वालों के सिर पर अवश्य घड़ा होता है।
…से धन प्राप्ति

१००. धर्म से धन स्थिर होता है और विघ्न विघट जाते हैं। पाप से रहित सरोवर रज से पूर्ण जाता है।
धर्म से धन की स्थिरता

१०१. 'धर्म से सुख, पाप से दुख' यह लोक में प्रसिद्ध है। इसलिये धर्म कर जिससे मनोवाञ्छित प्राप्त हो।
धर्म से सुख

१०२. धर्म से नर पालकी द्वारा जाते हैं और पाप से पालकी का वहन करते हैं। घर बनाने वाले घरके ऊपर चढ़ते हैं और कुआ खोदने वाले नीचे को जाते हैं।
…र्म का सुफल, …प का दुष्फल

१०३. धर्म से एक ही बहुतों का भरण पोषण करता है और अधर्मी स्वयं भूखा रहता है। वट बहुतों पर छाया करता है और ताल स्वयं घाम सहता है।
…र्म की शक्ति

१०४. बहुत कहने से क्या, जो अपने प्रतिकूल हो उसे कभी दूसरों के प्रति भी मत करो। यही धर्म का मूल है।
धर्म का मूल

१०५. सौ शास्त्रों को जान लेने से भी विपरीत ज्ञान वाले के मन पर धर्म नहीं चढ़ता। यदि सौ सूर्य भी उग आवें तो भी घुग्घू अंधा ही रहेगा।
…विपरीत ज्ञानी

पोट्टहं लग्गिवि पानगइ करइ पयत्तहं दुक्खु ।
देउलं लग्गियं गिल्लियइं किण्ण पत्तोट्टइं मुक्खु ॥ १०६ ॥

छुइ सुविसुद्धिय होइ जिय तणुमणवयसामग्गि ।
धम्मु विढप्पइ इंत्तियइं धणहं विलग्गउ अग्गि ॥ १०७ ॥

मुणि वयणइं झांयहि मणइं जिणु भुवणत्तयबंधु ।
कायंइं करि उववासु जिय जें खुट्टइ भवसिंधु ॥ १०८ ॥

होइ वणिज्ञु ण पोट्टलिहिं उववासहि णउ धम्मु ।
एहु अंहाणउ सो चवइ जसु कउ भागिउ कम्मु ॥ १०९ ॥

पोट्टलियइं मणिमोत्तियइं धणु कित्तियहि ण माइ ।
बोरिहिं भरिउ बलद्दडा तं णाही जं खाइ ॥ ११० ॥

उववासहु इक्कहु फलइं संबोहियपरिवारु ।
णायदत्तु दिवि देउ हुउ पुणरवि णायकुमारु ॥ १११ ॥

तें कज्जें जिय पैंइं भणिउ करि उववासब्भासु ।
जाम ण देहकुडिल्लियइं ढुक्कइ मरणहुयासु ॥ ११२ ॥

---

१ अ. देउलि. २ ज. लग्गायि. ३ ज. फीलियहिं ४ प परट्टइ. ५ अ. क. ज सुविसुद्धइ. ६ द. °वयणे समग्गि. ७ अ क. तित्तियइं. ८ ज. द. वयणि. ९ क. झाइय मणइ. १० अ कायइं. ११ ज. पोट्टिलिहिं. १२ ज. अयाणउ. १३ अ. कित्तयहिं १४ अ. क. बोरिय. १५ ज. पइं. १६ ज. उववासु सपासु.

पेट के लिये पाप

१०६. पेट के लिये भी पापमति दूसरों को दुःख पहुंचाता है। देवल में लगी हुई गीलियों को मूर्ख क्यों नहीं पलोटता?

मन-वचन-काय की शुद्धि

१०७. यदि, हे जीव, तन, मन और वचन की सामग्री विशुद्ध होय तो इतने से ही धर्म बढ़ता है। धन में आग लगने दे।

ध्यान, कीर्तन और उपवास

१०८. त्रिभुवन-बन्धु जिन भगवान् का वचनों से कीर्तन कर, मन से ध्यान कर, और काय से उपवास कर, जिससे, हे जीव, भवसिंधु छुटे।

उपवास की वाणिज्य से उपमा

१०९. वाणिज्य पोटली से नहीं होता। उपवास से धर्म नहीं होता। यह बहाना वह करता है जिसने भारी (दुष्) कर्म किया है।

११०. मणि और मोतियों की पोटली में धन कितना है इसका मान नहीं रहता। बैल और बेरों का तो कोई खाने वाला भी नहीं है।

उपवास-फल का उदाहरण

१११. एक ही उपवास के फल से परिवार का संशोधन करके नागदत्त स्वर्ग में देव हुआ और फिर नागकुमार।

उपवास का अभ्यास

११२. इसीलिये, हे जीव, तुझसे कहता हूं कि उपवास का अभ्यास कर, जबतक कि देह रूपी कुंड में मरण की आग नहीं पड़ी।

काय से धर्म, न्याय से धन

११३. धर्म वही विशुद्ध है जो अपनी काय से कि
जावे, और धन वही उज्ज्वल है जो न्याय
आवे।

निर्धनता और संयम

११४. निर्धन मनुष्य के किए संयम में उन्नति देते हैं
उत्तम पद में जोड़े हुए दोष भी गुण हो
जाते हैं।

नियम और निष्ठा

११५. नियम-विहीन मनुष्य की निष्ठा निष्फल होती है।
बिना बेल्हाये क्या कोई लोक में दाम का टुकड़ा
भी पाता है!

सच्चा तन, सच्चा मस्तक

११६. जो व्रत-भाजन हो वही तन है, अन्य किस काम
का? वही सिर है जो जिनमुनि को नमस्कार करे
और भक्ति के भार से सुशोभित हो।

सच्चे हाथ, सच्चे पांव

११७. जो दान और पूजाविधि करें वे ही सुलक्षण हाथ
हैं। जो जिनतीर्थों का अनुसरण करें वे ही पांव
प्रशंसनीय हैं।

सच्चे कान, सच्चे नेत्र

११८. जो धार्मिक शब्दों को सुनते हैं उन्हीं को मैं कान
मानता हूं। जो जिनवर का गुण देखें वे ही परम
लोचन धन्य हैं।

देह से देह का सार्थकता

११९. और भी जो (संग) जैसा उपकार कर सके
उससे वैसा उपकार कराओ। हे जीव, जीवन-
लाभ लेकर देह को निरर्थक मत करो।

धम्मु विसुद्धउ तं जि पर जं किज्जइ काएण ।
अहवा तं धणु उज्जलउ जं आवइ णाएण ॥ ११३ ॥

णिद्धणमणुयह कट्टडा संजमि उ[1]णय दिंति ।
अह उत्तमपइ जोडिया जिय दोस वि गुण हुंति ॥ ११४ ॥

णियमविहूणह[2] णिद्धणी जीवह णिप्फलु होइ ।
अणवोल्लियैउ[3] कि पावियइ दब्बफलंतरु[4] लोइ ॥ ११५ ॥

जो वयमायणु सो जि तणु किं किज्जइ इयरेण ।
तं सिरु जं[5] जिणमुणि णवइ रेहइं[6] भत्तिभरेण ॥ ११६ ॥

दाणचणविहि जे करहिं ते जि सलक्खण हत्थ ।
जे जिणतित्थैहं[7] अणुसरहिं पाय वि ते जि[8] पसत्थ ॥११७॥

जे सुणंति धम्मक्खरइं[9] ते हउं मण्णमि कण्ण ।
जे जोयहिं जिणवरह मुहु ते पर लोयण धण्ण ॥ ११८ ॥

अवरु वि जं जहिं उवयरइं[10] तं उवयोरहि[11] तित्थु ।
लइ जियैं[12] जीवियलाहडउ देहु म लेहुँ[13] णिरत्थु ॥ ११९ ॥

---

१ अ. क संजमियउणय. २ अ °विहूणा, क. विहूणी. ३ ज. बोल्लिउ. ४ क. दव्वफलंतरु. ५ ज जिं. ६ अ सोहइ. ७ अ. ज. °तित्थहिं. ८ अ. क ण ९ अ क °हिं, ज °इं. १० अ. क °हि. ११ ज. उवयारिहिं. १२ द जीविय जियलाहडउ. १३ प. करहु.

जीव का गया नहीं, केवल धर्म

१२०. घर, पुर, परिजन, धनिकों का धन, पुत्र, बांधव और सहायक ये जाते समय जीव के साथ नहीं जाते। धर्म ही एक साथ जाता है।

दान और मनोशुद्धि

१२१. कुछ भी कर के थोड़ा दान दे। मन को निजशक्ति के अनुसार शोध। जो शोध किया चलते समय वही उपकारी होगा इसमें भ्रान्ति नहीं।

विषय-कषाय का त्याग

१२२. हे जीव यदि तू सुख चाहता है तो विषय-कषाय छोड़ दे। जिन्होंने विषों का निवारण नहीं किया उनके क्या अध्यवसाय फलीभूत होते हैं ?

स्पर्शेन्द्रिय

१२३. हे जीव, स्पर्शेन्द्रिय का लालन मत कर। लालन करने से यह शत्रु बन जाता है। करिणी से लग कर हाथी जंजीर और अंकुश के दुख में पड़ा है।

जिह्वेन्द्रिय

१२४. हे जीव, जिह्वेन्द्रिय का संवारण कर। स्वादपूर्ण भक्षण भला नहीं होता। गल से मछली जल के दुख सहती है और तड़फड़ा कर मरती है।

घ्राणेन्द्रिय

१२५. हे मूढ़, घ्राणेन्द्रिय को वश में कर और विषय-कषाय से बच। गंध का लोभी शिलीमुख (भ्रमर) कमल में कुमला कर पड़ा है।

:जाते हुए पतंगों
ग को दीपक पर

गणगच्छहं गणमोहणेहं जिय गेयहं अहिलासु ।
गेयरसें हियकण्णडा पत्ता हरिण विणासु ॥ १२७ ॥

एक्केहिं इंदियमोकलउ पावइ दुक्खसयाइं ।
जसु पुणु पंच वि मोकला तसु पुच्छिज्जइ काइं ॥ १२८ ॥

विछउ होहिँ म इंदियहं पंचहं विण्णि णिवारि ।
इक्क णिवारहि जीहडी अण्ण पराई णारि ॥ १२९ ॥

खंचहि गुरुवयणंकुसहिं मेल्हि म विछउ तेमं ।
मुहं मोडइ मणहत्थियउ संजमभरतरु जेमं ॥ १३० ॥

परिहरि कोहु खमाइ करि मुच्चेहि कोहमलेण ।
ण्हाणें सुज्झइ भंतिकउ छित्तउ चंडालेण ॥ १३१ ॥

मउयत्तणु जिय माणि धरहि माणु पणासइ जेण ।
अहवा तिमिरु ण टाहरइ गयहु गयणि दिणेण ॥ १३२ ॥

माया गिल्हडी थोडिय वि दूसइ चरिउ विसुद्धु ।
कंजियबिंदुइं वि मुडइँ सुद्धु वि गुलियउ दुद्धु ॥ १३३ ॥

---

१ अ °मोहणइं. २ अ. गीयह. ३ अ क. एक वि. ४ अ. इंदिउ. ५ अ. क. द. होइ. ६ क. जीहडी, अ. जीहडिय. ७ क. तेम. ८ अ. प. अह. ९ अ संजमु भरु. १० अ. क. अंत. ११ क. सुंचइ. १२ अ. द्वार पत्त. १३ अ क. °बिंदु वि पाडइ पडइ. १४ अ. क. सडियउ.

१२७. *कर्णेन्द्रिय* — कुछ अच्छे, मनमोहक गीत की, हे जीव, अभिलाषा
(मत कर)। कर्णहारी गीत के रस से हरिण
विनाश को प्राप्त हुए।

१२८. *पंचेन्द्रिय* — एक ही इन्द्रिय के स्वच्छन्द होने से सैकड़ों दुख
प्राप्त होते हैं। जिसकी पांचों इन्द्रिय मुक्त हैं
उसका तो पूछना ही क्या है।

१२९. *जिह्वा और स्पर्श* — पांचों इन्द्रियों के सम्बन्ध में ढीला मत हो। दो का
निवारण कर। एक जीभ को रोक और दूसरे
पराई नार।

१३०. *मन रूपी हाथी, संयमरूपा वृक्ष* — गुरुवचन रूपी अंकुश से खींच, जिससे मद्दापन
को छोड़कर मनरूपी हाथी संयम रूपी हरे भरे
वृक्ष की ओर मुख मोड़े।

१३१ *सर्वांग शुद्धि* — क्रोध को छोड़ और क्षमा धारण कर। क्रोध रूपी
मैल से मुक्त हो। भ्रान्ति में पड़ा हुआ मनुष्य ही
चंडाल से छुआ जाकर स्नान से शुद्ध होता है।

१३२. *मार्दव* — हे जीव, मृदुता को मन में धारण कर जिससे
मान का प्रणाश हो। सूर्य के गगन में स्थित होने
पर तिमिर नहीं ठहर सकता।

१३३. *माया त्याग* — माया को छोड़ जो थोड़ी भी विशुद्ध चरित्र को
दूषित कर देती है। कांजी के बिन्दुमात्र से शुद्ध,
गुड़ौला दूध भी फट जाता है।

लोहु मिल्लि चउगइसलिलु हलुवउ जायइ जेम ।
लोहमुक्कु सायरु तरइ पंक्खि परोहणुं तेम ॥ १३४ ॥

मोहुं ण छिज्जउ दुब्बलउ होइ इयरु परिवारु ।
हलुवउ उग्घाडंतयहं अह व णिरग्गलुं वारु ॥ १३५ ॥

मिच्छत्तें णरु मोहियउ पाउ वि धम्मु मुणेइ ।
मंति कवण धत्तूरियउ ढेंलु वि सुवण्णु भणेइ ॥ १३६ ॥

जइ इच्छंहि संतोसु करि जिय सोक्खहं विउलाहं ।
अह वा णंदु ण को करइ रवि मेल्लिवि कमलाहं ॥ १३७ ॥

मणुयहं विणयविवज्जियहं गुण सयल वि णासंति ।
अह सरवरि विणु पाणियइं कमलइं केम रहंति ॥ १३८ ॥

विज्जावच्चें विरहियउ वयणियरो वि ण ठाइ ।
सुक्कसरहु किं हंसउलु जंतउ धरणहं जाइ ॥ १३९ ॥

रज्झाएं णाणहं पसरु रुज्झइ इंदियगाउ ।
पच्चूसें सूरुग्गमणि घूयंडकुलु णिच्छाउ ॥ १४० ॥

---

१ फ. परोहण. २ द. मोहुण छिज्जइं. ३ अ. फ. द. णिरग्गल. ४ अ. क. ढेलु वि सुण्णु. ५ अ. ज. द. अच्छहि. ६ ज. कु वि. ७ अ. फ. घूयड.

१३४. लोभ को छोड़ जिससे चतुर्गति रूपी जल हलका
लोभत्याग हो जाय। देख, लोभमुक्त प्ररोहण (नौका) सागर
को तर जाती है।

१३५. मोहका क्षय हो जाने से अन्य परिवार (आपही)
मोहत्याग दुर्बल हो जाता है। अर्गला रहित द्वार उघाड़ने में
हलका होता है।

१३६. *मिथ्यात्व से मोहित नर पाप को भी धर्म मानता*
मिथ्यात्व है। धतूरे से मत्त पुरुष दल को भी सुवर्ण कहे
इसमें क्या भ्रान्ति है।

१३७. यदि सूक्ष्म सुख की इच्छा है, तो, हे जीव, सन्तोष
सन्तोष कर। कमलों को आनन्द सूर्य को छोड़कर और
कौन करेगा?

१३८. विनय से विवर्जित मनुष्यों के सकल गुण नष्ट हो
[illegible] जाते हैं। [illegible] कि सरोवर में कमल किस
प्रकार [illegible]

लोहु मिल्लि चउगइसलिलु हलुवउ जायइ जेम ।
लोहमुक्कु सायरु तरइ पंक्खि परोहणुं तेम ॥ १३४ ॥

मोहुं णु छिज्जउ दुब्बलउ होइ इयरु परिवारु ।
हलुवउ उग्घाडंतयहं अह व णिरग्गलु वारु ॥ १३५ ॥

मिच्छत्तें णरु मोहियउ पाउ वि धम्मु मुणेइ ।
मंति कवण धत्तूरियउ ढेलु वि सुवण्णु भणेइ ॥ १३६ ॥

जइ इच्छेंहि संतोसु करि जिय सोक्खहं विउलाहं ।
अह वा णंदु ण को करइ रवि मेल्लिवि कमलाहं ॥ १३७ ॥

मणुयहं विणयविवज्जियहं गुण सयल वि णासंति ।
अह सरवरि विणु पाणियइं कमलइं केम रहंति ॥ १३८ ॥

विज्जावच्चें विरहियउ वयणियरो वि ण ठाइ ।
सुक्कसरहु किं हंसउलु जंतउ धरणहं जाइ ॥ १३९ ॥

सज्झाएं णाणहं पसरु रुज्झइ इंदियगाउ ।
पच्चूसें सूरुग्गमणि घूयडकुलु णिच्छाउ ॥ १४० ॥

---

१ क. परोहण. २ द. मोहुण छिज्जई ३ अ. क. द. णिरग्गल. ४ अ. क. ढेलु वि सुण्णु. ५ अ. ज. द. अच्छहि. ६ ज. कु वि. ७ अ. क. घूयड.

गुणवंतहं सहु संगु करि भल्लिम पावहि जेम ।
सुवण्णसुंपत्तविवज्जियउ णरतरु वुचंइ केम ॥ १४१ ॥

सत्तु वि महुरइं उवसमइ सयल वि जिय वसि हुंति ।
चाँइ कवित्तें पोरिसइं पुरिसहु होइ ण कित्ति ॥ १४२ ॥

भोयणु मेउणें जो करइ सरसइ सिज्झइ तासु ।
अहं वा वसइ समुद्दि जिय लच्छिम करहुं णिवासु ॥१४३॥

विसंयकसाय वसणणिवहु अण्णु जि मिच्छाभाउ ।
पिसुणत्तणु कक्कसवयणु मिल्लंहि सयलु अणाउ ॥ १४४ ॥

अण्णाएं आवंवि जिय आवइ धरण ण जाइ ।
उम्मग्गें चल्लंतयहं केंटइं भज्जइ पाउ ॥ १४५ ॥

परिहरि पुत्तु वि अप्पणउ जसु अण्णायपवित्ति ।
अप्पणियइं लालइं मरइ कुसियारउ णउ भंति ॥ १४६ ॥

अण्णाएं बलियंहं वि खउ किं दुब्बलेंहं णे जाइ ।
जहिं वाएं वचंति गय तेंहिं किं खूणी ठाइ ॥ १४७ ॥

---

१ ज. द. सवण. २ फ. सपत्त. ३ ज. वुज्झइ. ४ क. घाउ; अ. घाइ. ५ अ. मोणि ६ द. अह व वसाइ; ज. वसाय. ७ अ. फ. ज. कटइ. ८ फ. वसणि कसाए विसणमय. ९ अ. क. द. मिल्लिधि. १० अ. ज. कंटउ. ११ अ. वलियउ. १२ अ. क. ज. द. दुब्बलउ. १३ ज. द. स. १४ फ. ज. निह.

१४१. गुणवंतों का संग कर जिसने भलाई पाये। सुजन
सुसंगति और गुणों से विवर्जित उत्तम कुल कैसे कहा जा सकता है?

१४२. शत्रु भी मधुरता से शान्त हो जाता है और सभी
माधुर्य, त्याग और पौरुष जीव वश में हो जाते हैं। त्याग, कवित्व और पौरुष से पुरुष की कीर्ति होती है।

१४३. जो मौन से भोजन करता है उसे सरस्वती सिद्ध
मौन-भोजन होती है। लक्ष्मी समुद्र में निवास करती है इसलिये समुद्र (स+मुद्रा) में उसका निवास बनाओ।

१४४. विषय-कषाय, व्यसनसमूह, पिशुनत्व, कर्कशवचन
त्याज्य भाव और सकल अन्याय इनको छोड़।

१४५. अन्याय से (लक्ष्मी) आती तो आजाती है पर
अन्याय धरी (रोकी) नहीं जा सकती। उन्मार्ग से चलने वालों का पांव कांटे से भग्न होता है।

१४६. जिसकी अन्याय में प्रवृत्ति हो उसका परिहार कर
अन्यायी का त्याग चाहे वह अपना पुत्र भी हो। पुरियारा अपने ही लाल (लार) से मरता है, इसमें भ्रान्ति नहीं।

१४७. अन्याय से बलवानों का भी क्षय हो जाता है, क्या
अन्याय से नाश दुर्बल का न होगा? जहां वायु से गज भी उड़ जाते हैं वहां क्या कुर्सी ठहर सकती है?

अण्णाएं दालिद्दियहं रे[1] जिय दुहु आवग्गु ।
लकडियँहं[2] विणु खोडयहं मग्गु साचिक्खिलु[3] दुग्गु ॥ १४८ ॥

अण्णाएं दालिद्दियहं ओट्टइ णिव्वाहु ।
लुग्गउ पायपसारणइं फाटेइ[4] को संदेहु ॥ १४९ ॥

ता अच्छउ जिय पिसुणमइ संगु जि ताह विरुदु ।
सप्पहं संगें कट्टियउ चंदणु पिक्खु[5] सुयंधु ॥ १५० ॥

विहडावइ ण हु संघडइ पिसुणु परायउ णेहु ।
टालइ रयँइ[6] ण उच्चिडउ उंदरु[7] को संदेहु ॥ १५१ ॥

धम्में विणु जे सुक्खड़ा तुट्टा गया वियार ।
जे तरुवर खंडिवि खुडिय ते फल इक जि वार ॥ १५२ ॥

सुहियउ हुवउ ण[8] को वि इह रे जिय णरु पावेण ।
कद्दमि ताडिउ उट्ठियउ गिंदुउ[9] दिट्ठउ केण ॥ १५३ ॥

रे जिय पुण्ण ण धम्मु किउ एवहिं करि संताव ।
भंति कवण विणु णावियइं खडहडि णिवडइ णाव ॥१५४॥

---

१ ज. द. ओट. २ ज. द. लकडियइं. ३ अ क. सचिचिखलु ४ अ. ज. फट्टइ. ५ अ. पिक्खि. ६ अ. क रयणिहिं उच्चिडउ. ७ अ. उंदुरु ८ ज. द. ण होरएइ अरि जिय को पायेण ९. ज छिंदुउ; द. छिंदुउ.

१४८. हे जीव, अन्याय से इन्द्रियों का सुख बढ़ता है। बिना लकड़ी के मोड़े के मार्ग कीचड़मय और दुर्गम हो जाता है।

अन्याय से दुःखादि

१४९. अन्याय से इन्द्रियों का निर्वाह भी टूट जाता है। जीर्ण वस्त्र पांव पसारने से फटेगा ही इसमें क्या सन्देह है।

अन्याय से निर्वाह-हानि

१५०. इसलिये, हे जीव, पिशुनमति को अलग रहते हैं। उसका संग भी विरुद्ध (बुरा) होता है। सर्प के संग से, देख, सुगन्धी चन्दन भी काट डाला जाता है।

पिशुन

१५१. पिशुन पराये स्नेह को तोड़ता है जोड़ता नहीं। उंदीर (मूषक) उत्तरीय (वस्त्र) को काटता है, रचता नहीं।

१५२. धर्म के बिना जो सुख भोगे हैं वे विचारो कि टूट गये। जो सूत को काटकर लौटे गये हैं वे पल्ले एक बार के ही हैं।

धर्महीन सुख

१५३. हे जीव, पाप से यहां कोई नर सुखी नहीं हुआ। कीचड़ में सानी हुई गेंद उठती हुई किसने देखी है?

पाप से सुख नहीं.

१५४. हे जीव, 'पूर्व में धर्म नहीं किया' इसका संताप कर। बिना नाविक के नाव समुद्रों पर जा चढ़े तो इसमें क्या भ्रान्ति है।

धर्म नाविक है

अग्गाएं डालिडियइं रे जिय दइ आरम्गु ।
लक्कडियइं विणु मोडयइं मग्गु माणिक्कमलु दुग्गु ॥ १४८

अण्णाएं डालिडियइं ओलट्टइ णिव्वाहु ।
लुग्गउ पायपसारणइं कासइ को संदेहु ॥ १४९ ॥

ता अच्छउ जिय पिसुणमइ संगु जि ताह विरुदु ।
सप्पहं संगें कट्टियउ चंदणु पिक्खु सुयंधु ॥ १५० ॥

विहडावइ ण हु संघडइ पिसुणु परायउ णेहु ।
टालइ रयंइ ण उच्छिडउ उंदरु को संदेहु ॥ १५१ ॥

धम्में विणु जे सुक्खडा तुट्टा गया वियार ।
जे तरुवर खंडिवि खुडिय ते फल इक्क जि चार ॥ १५२ ।

सुहियउ हुवउ ण को वि इह रे जिय णरु पावेण ।
कद्दमि वाडिउ उट्ठियउ गिंदुउ दिट्ठउ केण ॥ १५३ ॥

रे जिय पुण्ण ण धम्मु किउ एवहिं करि संताव ।
मंति कवण विणु णावियइं खडहडि णिवडइ णाव ॥१५४।

१ ज. द. ओर. २ ज. द. लक्कडियइं. ३ अ क सचिपिसलु ४ अ. ज. फट्टइ. ५ अ. पिक्खि. ६ अ. क. रयणिहिं उत्तिट्टउ. ७ अ. उंदुरु ८ ज. द. ण ढोइसइ अरि जिय को पावेण ९ ज. छिंदुउ; द. झिंदुउ.

हे जीव, अन्याय से दरिद्रियों का दुरा पड़ता है। विना लकड़ी के कोड़े के मार्ग कीचड़मय और दुर्गम हो जाता है।

अन्याय से दरिद्रियों का निर्वाह भी टूट जाता है। जीर्ण वस्त्र पांव पसारने से फटेगा ही इसमें क्या सन्देह है।

इसलिये, हे जीव, पिशुनमति को अलग रहने दे। उसका संग भी विरुद्ध (बुरा) होता है। सर्प के संग से, देख, सुगन्धी चन्दन भी काट डाला जाता है।

पिशुन पराये स्नेह को तोड़ता है जोड़ता नहीं। उंदीर (मूषक) उत्तरीय (वस्त्र) को काटता है, रचता नहीं।

धर्म के बिना जो सुख भोगे हैं वे विचारले कि टूट गये। जो वृक्ष को काटकर तोंटे गये हैं वे फल एक बार के ही हैं।

हे जीव, पाप से यहां कोई नर सुखी नहीं हुआ। कीचड़ में मारी हुई गेंद उठती हुई किसने देखी है!

हे जीव, 'पूर्व में धर्म नहीं किया' इसका संताप कर। बिना नाविक के नाव चढ़ाओं तो इसमें क्या भ्रान्ति है।

जेण सुदेउ मुणरु हवसि सो पइं कियउ ण धम्मु ।
विण्णि वि छत्तें वोरियहि इक्कु पाणिउ अरु धम्मु ॥१५५॥

अभयदाणु भयभीरुयहं जीवहं दिण्णु ण आसि ।
वार वार मरणहं डरहि केम चिराउसु होसि ॥ १५६ ॥

विज्ञावच्चु ण पइं कियउ दिण्णु ण ओसहदाणु ।
एवहिं वाहिहिं पीडियउ कंदि म होहि अयाणु ॥ १५७ ॥

संघहं दिण्णु ण चउविहंहं भत्तिए भोयणदाणु ।
रे जिय काइं चडप्फडहि दूरीकयणिव्वाणु ॥ १५८ ॥

पोत्थय दिण्ण ण मुणिवरहं विहिय ण सत्थहं पुज्ज ।
मइ पंडियउ कवित्तुं गुणु चाहहि केम णिलज्ज ॥ १५९ ॥

पाउ करहि सुहु अहिलसहि परं मिविणे वि ण होइ ।
माइण्णिवें वाहेमइ अव कि चक्खइ कोइ ॥ १६० ॥

गुरुआरंभइं पेरयगइ तिव्वकसाय हवति ।
इक्कछिद्दिय पाहणभरिय बुड्डइ णाव ण भंति ॥ १६१ ॥

---

१ ज. विरयहि. २ अ. 'भीतयहं. ३ ज. चिरायउ ४ अ. संघहं. ५ अ. क. द. 'विहंहं. ६ ज. कवित्त°. ७ क. द. परि. ८ ज. मायइ. ९ अ. ज. वाविथइं. १० अ. द 'आरंभहं. ११ अ. क. णिरय°.

कुंडतुलामाणाइयहं हरिकरिखरविसमेस ।
जो णचइ णंडपेखणउ सो गिण्हइ बहुवेसे ॥ १६२ ॥

हलुवारंभहं मणुयगइ मंदकसायहं होइ ।
छुडु सावउ धणु वाहुडइ लाहउ पुणरवि होई ॥ १६३ ॥

सम्मत्तें सावयवयहं उप्पज्जइ सुरराउ ।
जो गविणिट्ठउ छंडियइ सो धारइ किम जाउ ॥ १६४ ॥

धम्में जं जं अहिलसइ तं तं लहइ असेसु ।
पावें पावइ पावियउ दालिदु वि सकिलेसु ॥ १६५ ॥

धम्में हरिहलचक्कवइ कुलयरु जायइ कोइ ।
भुवणत्तयवंदियचलणु कु वि तित्थंकरु होइ ॥ १६६ ॥

जासु जणणि सग्गागमणि पिच्छइ सिविणयपंति ।
पहतेएं संभावियइ सुरुग्गमणु ण भंति ॥ १६७ ॥

जो जम्मुच्छवि ण्हावियउ अमियघडहिं सक्केण ।
किम ण्हाविज्जइ अतुलबलु जिणु अह वागकेण ॥ १६८ ॥

---

१ ज. कुडतुला कुडमाणयहं. २ ज णइ. ३ अ. क. भेस. ४ अ. क. लहुआ°. ५ क. कोइ. ६ क. योगविणट्ठउ, अ. द. णिट्ठिउ. ७ अ. जाइ. ८ क द. पावइ. ९ ज °णि.

१६२. कूट तुला, मानादि (झूठे तराजू, बाँट आदि) रखने वाले सिंह, हाथी, गधा, बिल्ले व मेष (बकरा) होते हैं। जो नट का तमाशा करता है वह बहुत वेष धारण करता है।

कपट-व्यापार का फल

१६३. लघु आरम्भ और मन्दकषाय वालों को मनुष्य-गति-प्राप्त होती है। यदि श्रावक धन का व्यापार करता है तो फिर लाभ होता ही है।

मनुष्य-गति की प्राप्ति

१६४. सम्यक्त्व-सहित श्रावक के व्रतों से सुरराज उत्पन्न होता है। जो इन्द्रियों की निष्ठा को छोड़ देता है वह जाने से कैसे रोका जा सकता है?

इन्द्रत्व-प्राप्ति

१६५. धर्म से जो जो अभिलाषा करता है सो सब पाता है। पाप से पापी क्लेशमय दारिद्र्य पाता है।

यथेष्ट प्राप्ति

१६६. धर्म से कोई हरि, हर, चक्रवर्ती व कुलकर उत्पन्न होता है और कोई तीर्थंकर होता है जिनके चरणों की तीनों लोक वन्दना करते हैं।

तीर्थंकर पद-प्राप्ति

१६७. स्वर्ग से आगमन के समय उनकी जननी स्वप्न-पंक्ति देखती है। सूर्योदय प्रभा के तेज से संभावित होता है इसमें भ्रान्ति नहीं।

गर्भकल्याण

१६८. जन्मोत्सव के समय उनका स्नान शक्र अमृत के घड़ों से करता है। अतुलबली जिन भगवान् अशक्त के द्वारा कैसे नहलाये जा सकते हैं।

जन्म कल्याण

सुरसायरि जसु णिक्कमणि घल्लइ चिहुरं सुरिंदु ।
अह उत्तमकज्जहं हवइ ठाउ जि खीरसमुद्दु ॥ १६९ ॥

णाणुग्गमि जसु समसरणि पत्तामरसंघाउ ।
होइ कमलैमउलियभसलु सरुग्गमणि तलाउ ॥ १७० ॥

जसु पच्चुत्तमेराइयउ विलुलंतो वि असोउ ।
अइदूरुज्झियपरियणहं किम उप्पज्जइ सोउ ॥ १७१ ॥

धारिउ तिमिरु जिणेसरहं भामंडलु अइदित्तु ।
इयतमु होइ सुहावणउ इत्थु ण काइं विचित्तु ॥ १७२ ॥

मादउसरणु सिलीमुहउ कुसुमामणि थिप्पंति ।
सुमणस अलियविवज्जिया जिणचलणहं णिवडंति ॥१७३॥

धवलु वि सुरमउडंकियउ सिंहासणु पहु रेइं ।
अह वा सुरमणिमंडियउ जिणवरआसणु होइ ॥ १७४ ॥

सद्दमिणिण दुंदुहि रडइ छंडहु जीवहं वेरि ।
इक्कारइ णर तिरिय सुर एरिस होइ मं भेरि ॥ १७५ ॥

---

१ द. णिक्खमणि. २ ज. चिहुर. ३ अ कमल्ल. ४ अ. द. °क्कमि. ५ ज. रेइ. ६ अ °इय. अ °इरि, द °तरि. ७ अ. मु (सु. ?), द म.

१६९. निष्क्रमण के समय सुरेन्द्र उनके केशों को क्षीरसागर में घालते (डालते) हैं। उसका कार्य का दांव भी क्षीरसमुद्र होता है।

तप कल्याण

१७०. ज्ञानोदय के समय उनके समवशरण में देवों का समूह प्राप्त होता है। सूर्योदय के समय तलाव कमलों पर मुकुलित भ्रमरों से युक्त होता है।

ज्ञान कल्याण

१७१. उनके ऊपर उत्तम पत्रों से विराजित अशोक लहलहाता है। जिन्होंने परिजनों का बहुत दूर से परित्याग कर दिया उन्हें कैसे शोक उत्पन्न हो सकता है?

अशोक

१७२. जिनेश्वर का अंधकार दूर हुआ है, अतः उनका भामण्डल अतिदीप्तिमान, तम का नाश करने वाला और सुहावना होता है इसमें कुछ विचित्र नहीं है।

भामण्डल

१७३. समवशरण निर्लिप्त कुसुमासव पर पतन हो जाते हैं और अतीवपरिवर्जित सुमनस जिन भगवान् के चरणों में पड़ते हैं।

पुष्प?

१७४. सुरमुकुटांकित धवल सिंहासन भी बहुत शोभा पमान है। जिनवर का आसन सुरमणिजड़ित होता है।

सिंहासन

१७५. इन्द्र के सिर से दुंदुभि कहती है 'जीवों के प्रति प्रेम करो'। यह मद, निर्दय और सुरों को दबाती है। यह भेरी बजती होती है।

दुंदुभि

पामर ससहरकरधवल जसु चउसट्ठि पडंति ।
इगिसिप जिणपासट्ठिया अह सचामर हुंति ॥ १७६ ॥

छत्तई छणससिपंडुरई सुर णर णाय धरंति ।
विसहरसुरचक्किहिं गहिय जिणपुंडरिय हवंति ॥ १७७ ॥

दुंदिअविस्सयसंपुण्णदल जीवा सासणि जासु ।
अगियसरिसं दियगहुर गिर अह व ण वज्झइ कासु ॥१७८

एह विहइ जिणेसरहं हुव धम्मे एवहुं ।
पणसइ णयणाणंदयरि होइ वसंतें गंड ॥ १७९ ॥

एवंविहुं जो जिणु गहइ वंछिउ सिज्झइ तासु ।
धीजें अह या गिंगिंयइं रोसिय होइ ण कासु ॥ १८० ॥

जो जिणु ण्हावइ घयपयहिं सुरहिं ण्हविज्जइ सोइ ।
सो पावइ जो जं करइ एहु पसिद्धउ लोइ ॥ १८१ ॥

गंधोदएण जि जिणवरहं ण्हाविये पुण्णु पहुत्तु ।
सेयहं विंदु रि विमलंजलि को वारइ पगोतु ॥ १८२ ॥

---

१ अ. °इं. २ अ. धुणि, ज. धुणि. ३ अ [illegible] ४ अ क. इयवइ. ५ अ. क. °विह. ६ अ द. विझं. ७ [illegible] बंधियवं ८ अ. ण्हाविदि. ९ द. सेयहि. १० ज. ण्हविदि.

१७६. चमर — चन्द्रकिरणों के समान धवल चौसठ चमर उनके ऊपर ढुलते हैं। हर्ष से जिन भगवान् के पास स्थित होने वाले सचामर (सचे अमर) होते हैं।

१७७. छत्र — पूर्णचन्द्र के समान श्वेत छत्र सुर नर और नाग धारण करते हैं। जिन भगवान् के पुंडरीक (छत्र) विषधर, सुर और चक्रवर्तियों द्वारा गढ़े जाते हैं।

१७८. दिव्यध्वनि — उनके शासन में ध्वनि द्वारा जीवों के सम्पूर्ण फलों का व्याख्यान होता है। अमृत के सदृश, हृदयमधुर गिरा किसे प्यारी नहीं लगती?

१७९. यह जिनेश्वर की इतनी विभूति धर्म से ही हुई है। नयनानन्दकारी वनश्री वसन्त से ही मण्डित होती है।

१८०. जिन पूजा — इस प्रकार के जिन भगवान् की जो पूजा करता है उसका वाञ्छित सिद्ध होता है। बीज के सींचने से किसकी खेती (समृद्ध) नहीं होती?

१८१. घृत-पय-प्रक्षाल — जो जिन भगवान् को घृत और पय से स्नान कराता है उसे सुर नहलाते हैं। 'जो जैसा करता है वैसा पाता है' यह लोक में प्रसिद्ध ही है।

१८२. गंधोदक-प्रक्षाल — जिनवर के गंधोदक स्नान से बहुत पुण्य होता है। विमल जल में पड़े हुए तेल के बिन्दु को फैलने से कौन रोके

दिइ जिणिंदहं जो फलइं तसु इच्छियइं फलंति ।
भोयधरहं गय रुक्खडा सयल मणोरहं दिंति ॥ १९० ॥

जिणपयगयकुसुमंजलिहिं उत्तमसियसंजोउ ।
रगयरविकिरणावलिए णलिणिहिं लच्छिम होइं ॥१९१॥

जिणपडिमइं कारावियइं संसारहं उत्तारु ।
मणट्ठियहं तरंडउ वि अह व ण पावइ पारु ॥ १९२ ॥

तणभवणइं कारावियइं लब्भइ सग्गि विमाणु ।
ह टिकइं आराहणहं होइ समाहिहि ठाणु ॥ १९३ ॥

धवलावइ जिणभवणु तसु जसु कहिं मि ण माइ ।
सिकरणियरु सरयमिलिउ जगु धवलणहं वसाइ ॥१९४॥

पइठावइ जिणवरहं तगु पसरइ जगि किंत्ति ।
हिवेल छणससिगुणइं को वारइ पसरंति ॥ १९५ ॥

रसिउ दिण्णउ जिणहं उज्जोयइं सम्मत्तु ।
णुब्भासइ सुरगिरिहिं यरु पयाहि ण दिंतु ॥ १९६ ॥

---

१ द. मणोहर हुंति. २ ज द. होउ. ३ क °हु, द. ४ ज. आराहणहं; द. आराहणिहिं. ५ ज. ससिहर. ६ क. हं. ७ ज. दीयउ दिण्णउ जिणवरहं. ८ क. द. उज्जोहर.

१९०. जो जिनेन्द्र को फल चढ़ाता है उसको यथेष्ट फ[...]
प्राप्त होता है। भोगभूमि के वृक्ष उसके स[...]
मनोरथों को पूरा करते हैं।

फल-पूजा फल

१९१. जिनदेव के पद पर चढ़ाई कुसुमाञ्जलि से उत्त[...]
श्री का संयोग होता है। सरोवर में पड़ी रवि की
किरणावलि से कमलों में लक्ष्मी आती है।

कुसुमाञ्जलि फल

१९२. जिनप्रतिमा कराने से संसार से उतार होता है।
गमन के लिये उद्यत पुरुष को तरंड (डोंगा) ही
पार लगाता है।

जिन-प्रतिमा कराने का फल

१९३. जिन-मन्दिर बनवाने से स्वर्ग में विमान मिलता
है, और आराधना की टीका करने से समाधि में
स्थिति होती है।

जिनमंदिर निर्माण फल

१९४. जो जिन-मन्दिर को धवल करवाता है (सफेदी
करवाता है) उसका यश कहीं नहीं माता।
शरत्काल में मिलकर चन्द्रकिरणों का समूह
जगत् भर को धवल बना देता है।

जिनमंदिर की सफेदी कराने का फल

१९५. जो जिनवर की प्रतिष्ठा करता है उसकी जगत्
में कीर्ति फैलती है। पूर्णचन्द्र के गुणों से प्रसार
करती हुई उदधि की वेला (तरंग) को कौन
रोक सकता है?

जिन-प्रतिष्ठा फल

१९६. जिनदेव को दी हुई आरती सम्यक्त्व का उद्योत
करती है। सुरगिरि पर पदार्पण करते ही सूर्य
भुवन को उद्भासित कर देता है।

आरती-फल

तिलयइं दिण्णइं जिणवरहं जगि अणुराउ ण माइ ।
चंदकंति चंदहं मिलिउ पाणिय दिण्ण ण ठाइ ॥ १९७ ॥

चंदोवइं दिण्णइं जिणहं मणिमंडविय विमाल ।
अह संबंधा ससहरहं गहतारायणमाल ॥ १९८ ॥

भव्वुच्छाहणि पावहरि जिणहरि घंट रसंति ।
कुमुयाणंदणि तमहरणि छणजामिणि ण हु मंति ॥ १९९ ॥

चिंधचमरछत्तइं जिणहं दिण्णइं लब्भइ रज्जु ।
अह पारोहहिं णिग्गयहिं वड्डु वित्थरइ ण चोज्जु ॥ २०० ॥

जिणहरि लिहियइं मंडियइं लच्छि समीहिय होइ ।
पुण्णु महंतउ तासु फलु कहिवि णे सक्कइ कोइ ॥ २०१ ॥

जंबूदीउ समोसरणु णंदीसरं लोयाणि ।
जिणवरभवणि लिहावियइं सयलहं दुक्खहं हाणि ॥२०२॥

दिण्णइं वत्थ सुअजियइं दिव्वंबर लब्भंति ।
पाणिउ पेसिंउ पउमिणिहिं पउमइं देइ ण भंति ॥ २०३ ॥

---

१ ज. उदउ कि दिसी टाइ. २ द. मदि. ३ अ. ज संबंधी. ४ ज. गय°. ५ क. °यर. द. °हर. ६ ज. °छत्तइं. ७ क. द. मज्झइ. ८ ज समाहिय. ९ ज. कि. १० अ. द. णंदीसरि. ११ क. दिण्णें, ज. द. दिण्णा. १२ अ क. ज. पाणिउ.

१९७. *तिलक-फल* — जिनघर को तिलक चढ़ाने से जगत् में अनुराग नहीं माता। चन्द्रकान्त (मणि) चन्द्र से मिलकर पानी देने से नहीं रुकता।

१९८. *चंदेवा लगाने की शोभा* — जिन भगवान् को चढ़ाये हुए मणि-मंडित और विशाल चंदेवा (ऐसे शोभायमान होते हैं) जैसे ग्रह और तारागणों की माला चन्द्र से सम्बद्ध हुई हो।

१९९. *जिनगृह में घंटे की महिमा* — जिनगृह में बजता हुआ घंटा भव्यों का उत्साहक और पापहारी होता है। पूर्णिमा की रात्रि कुमुदानन्ददायिनी और अन्धकारहारिणी होती है इसमें भ्रान्ति नहीं।

२००. *ध्वजा, चमर, छत्र चढ़ाने का फल* — जिन भगवान् को ध्वजा, चमर और छत्र चढ़ाने से राज्य मिलता है। मारोहों के निकलने से यह फल का विस्तार बढ़े तो क्या आश्चर्य है।

२०१. *मांडना लिखने का फल* — जिनगृह में मांडना लिखने से यथेष्ट लक्ष्मी प्राप्त होती है और महापुण्य होता है जिसका फल कोई कह नहीं सकता।

२०२. *जम्बूद्वीपादि लिखाने का फल* — जम्बूद्वीप, समोसरण, नन्दीश्वर व लोकों को जिनमन्दिर में लिखवाने से सकल दुखों की हानि होती है।

२०३. *आर्यिकाओं को वस्त्रदान का फल* — आर्यिकाओं को वस्त्र देने से दिव्य वस्त्रों की प्राप्ति होती है। पद्मसरोवर में पानी का प्रवेश कराने से पद पद देगा, इसमें भ्रान्ति नहीं।

सारंभइं ण्हवणाइयहं जे सावज्जें भणंति ।
दंसणु तेहिं विणासियउ इत्थु ण कायउ भंति ॥ २०

पुंग्गलु जीवइं सहु गणियं जो इच्छइ धणचाउ ।
इंणि सम्मत्तें तसु तणइं किम सम्मत्तु म जाउ ॥ २०५

सम्मत्तें विणु वय वि गय वयहं गयहं गउ धम्मु ।
धम्में जंतें सुक्खु गउ तें विणु णिप्फलु जम्मु ॥ २०६

पुण्णरासिण्हवणाइयइं पाउ लहुं वि किउ तेण ।
विसकणियइं बहु उवहिजलु णउ दूसिज्जइ जेण ॥ २०

तें सम्मत्तु महारयणु हिययंचलि थिरुं बंधि ।
तें सहु जहिं जहिं जाहिं जिय तहिं तहिं पावहि सिद्धि॥२

दाणचणविहि जो करइ इच्छिये भोयणिबंधु ।
विकइं सुमणि वराडियइं सो जाणहु जावंधु ॥ २०९ ॥

तें कम्मक्खउ मग्गि जिय णिम्मल बोहिसमाहि ।
ण्हवणदाणपूजाइयेहिं जें सासयपइ जाहि ॥ २१० ॥

---

१ अ. द सावज्जु. २ फ. पुग्गल जीविहसुहु. ३ अ.
द. गणिउ, ज. गणियउ. ४ अ. फ. णिसासणाइं. ५ अ. द
किउ. ६ अ तुहुं. ७ फ. आर. ८ फ. पावर. ९ अ द. इच्छ
१० अ विकिणि. ११ अ फ. °पूजारयइं.

अभिषेक मे दोष नहीं

२०४. जो अभिषेकादि के समारम्भों को सावद्य (दोष-पूर्ण) कहते हैं उन्होंने दर्शन का नाश कर दिया, इसमें कोई भ्रान्ति नहीं।

निर्विवेक से सम्यक्त्वनाश

२०५. जो पुद्गल को जीव का साथी गिनकर धन के त्याग की इच्छा करता है उसकी ऐसी सम्मति से सम्यक्त्व कैसे नहीं जायगा?

सम्यक्त्वनाश से सुखनाश

२०६. सम्यक्त्व के बिना व्रत भी गये। व्रतों के जाने से धर्म गया। धर्म के जाते ही सुख भी गया जिसके बिना जन्म निष्फल है।

पुण्यराशि में पापबिन्दु

२०७. अभिषेकादि की पुण्यराशि में यदि किसी ने लघु पाप भी कर लिया तो विष के एक कण से समुद्र भर का जल दूषित नहीं हो सकता।

सम्यक्त्व से सिद्धि

२०८. इससे सम्यक्त्व रूपी महारत्न को हृदय रूपी अंचल में स्थिरता से बांध। उसके साथ, हे जीव, जहां जहां जायगा, तहां तहां सिद्धि पायेगा।

भोगों की इच्छा से धर्म

२०९. जो भोगबंध की इच्छा से दानार्चन विधि करता है, वह जन्म का अंधा, आलो, उत्तम मणि को कौड़ी मोल बेचता है।

...उज्ज्वलीय फल

२१०. इसलिये, हे जीव, अभिषेक, दान, पूजादि से कर्मों के क्षय और निर्मल बोधि समाधि की मांग कर जिससे शाश्वत पद पर आवे।

मणुयत्तणु दुल्लहु लहिवि भोयहं पेरिउ जेण ।
इंधणकज्जें कप्पयरु मूलहो खंडिउ तेणं ॥ २१९ ॥

दुल्लहु लहिवि णरत्तयणु विसयहं तोसिउ जेण ।
पट्टोलयतग्गंथियहं सुरयणु फोडिउँ तेण ॥ २२० ॥

दुल्लहु लहि मणुयत्तणउ भोयहं पेरिउ जेण ।
लोहकज्जि दुत्तरतरणि णाव वियारिय तेण ॥ २२१ ॥

दुण्णि सयइं विसुत्तरइं पढियइं सिवगइं दिंति ।
धम्मधेणु संदोहयहं वरपउ दिंति ण भंति ॥ २२२ ॥

णयेसुरसेहरमणिकिरणपाणिय पयपोमाइं ।
संघहं जाहं समुल्लसहिं ते जिण दिंतु सुहाइं ॥ २२३ ॥

दंसणु णाणु चरित्तु तउ रिसिगुरु जिणवरदेउ ।
बोहिसमाहिए सहुं मरणु भवि भवि हुज्जउ एउ ॥ २२४ ॥

इय सावयधम्मदोहा समत्ता ।

---

१ ज. भ. में यह दोहा नहीं है. २ फ. केडिउ. ३ अ. पावी-सुत्तरइं. ४ ज. सियसुहु. ५ फ. णय. ६ फ. जे पाणियपोमाइं। द. सुतिपाणियपोमाइं. ७ अ फ. ज. द. जाइं. ८ अ. तेण जि णुत्त सहाइं. ९ अ. सिरि° १० फ. रिझउ एहु.

अनुवाद

२१९. दुर्लभ मनुजत्व को पाकर जिसने उसे भो[...] प्रेरा उसने इन्धन के लिये कल्पतरु को मूल[...] काट डाला।
मनुष्य जन्म का दुरुपयोग

२२०. दुर्लभ नरत्व का लाभ पाकर जिसने विषयों [...] संतोष माना उसने छशपट में गांठ देने के लिये ([...] उत्तम रत्न को फोड़ डाला।

२२१. दुर्लभ मनुजत्व को पाकर जिसने उसे भोगों में प्रेरा उसने दुस्तरतरणि नाव को उसका लोहा निकालने के लिये तोड़ डाली।

२२२. ये बीस ऊपर दो सौ दोहे पढ़ने से दायगति देते हैं। धर्मधेनु अच्छे दोहकों (दुहने वालों) को उत्तम पय (दुग्ध या पद) देती है इसमें भ्रान्ति नहीं।
इस ग्रंथ के पढ़ने का फल

२२३. नमस्कार करते हुए देवों के मुकुटमणियों के किरणरूप पानी के संसर्ग से जिनके कमलरूपी चरण प्रकाशमान हैं वे जिनदेव सुख प्रदान करें।
सुख की प्रार्थना

२२४. दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, ऋषि-गुरु, जिनवर-देव और बोधिसमाधि सहित मरण, ये भव भव में होवें।
अन्तिम विनति

इति श्रावकधर्मदोहा समाप्त।

परिशिष्ट

किसी किसी पोथी में कुछ दोहे अधिक पाये जाते हैं जो प्रक्षिप्त ज्ञात होते हैं। वे यहां उद्धृत किये जाते हैं।

दोहा नं. २२ और २३ के बीच भ प्रति में —

मज्जहु तिजहु भव्वयणु जेण मई विपरीय।
हीणकुलेसु य जोय कही तसथावर उवजंति ॥
परिहरि मांसहु अरि जिय पंचेहिं णासी पसेहि।
तस्सु वि थावर धाइही सम्मोछिय बहु होइ ॥

अनुवाद—हे भव्यजन मद्य को त्यागो जिससे मति विपरीत हो जाती है। वह हीनकुलवालों के योग्य कही है। उसमें त्रस और स्थावर जीव उत्पन्न होते हैं।

रे जीव, मांस का परिहार कर। वह पंचेन्द्रिय जीवों के नाश से प्राप्त होता है। उसमें भी त्रस, स्थावर व सम्मूर्छन जीव बहुत होते हैं।

दोहा नं. २८ और २९ के बीच क. प्रति में—

चउ प इंदिय थिण्णि छह अट्ठह तिण्णि हवंति।
दह चउरिंदिय जीवडा बारह पंच हवंति ॥

इसमें जीवभेदों की संख्या दी है। इसके लिये 'तत्त्वार्थाधिगमसूत्र' देखिये।

दोहा नं. १६ और १७ के बीच क. प्रति में—

उक्तं च–सामान्यतो निशायां च जलताम्बूलमौषधम् ।
गृह्णातु चैव गृह्णन्तु मैव माहां फलादिकम् ॥

यह दोहा नं. १७ के भाव की पुष्टि के लिये अन्य ग्रन्थसे उद्धृत किया गया है।

दोहा नं. ७६ और ७७ के बीच म प्रति में—

भरहे पंचमकालहिं ण स्सेणी महव्वयधारी ।
अत्थि अणुव्वयधारी कोडिहिं लक्खेसु कोई ॥

अनुवाद–भरतक्षेत्र में, पंचमकाल में, श्रेणीबद्ध महाव्रतधारी (मुनि) नहीं होते। अणुव्रतधारी भी लाखों करोड़ों में कोई होता है।

दोहा नं. १८१ और १८२ के बीच क प्रति में—

जिणु ण्हावइ उत्तमरसहिं सक्करअम्ममयेहिं ।
सो मद जम्मोयहि तरहि इत्थु म भंति करेहि ॥
जो पियकंचनपण्णहइ जिणु ण्हावइ धरि भाउ ।
सो दुग्गइ गइ अपहरइ जम्मि ण ढुक्कइ पाउ ॥
दुद्धें जिणवइ जो ण्हवइ मुत्ताहलधवलेण ।
सो संसारि ण संभवइ मुच्चइ पापमलेण ॥
उज्जलहारहिं उत्तम दइयइ दहिउ पडंति (?) ।
भवियइं मुच्चइ कलिमलइं जिणदिट्ठउ विहसन्तुं ॥
सप्पोसहिं जिणण्हाहियइं कलिमलरोय गलंति ।
मणवंछियसय संभवहिं मुणिगण एम भणंति ॥

अनुवाद—जो जिन भगवान् को स्नान और आपके उत्तम धर्मों ...
महात्मा है वह भव जन्मोदधि को तरता है इसमें भ्रांति मत करो.

जो केशरादि जल से जिन भगवान् को माथ धारण कर
महात्मा है वह दुर्गति गति को दूर करता है और जन्मभर उसे पाप
नहीं लगता।

जो मुक्ताफल के समान धवल दूधसे जिनवर को स्नान कराता है वह
संसार में उत्पन्न नहीं होता और पापमल से मुक्त होजाता है।

दुग्ध की धार के पश्चात् दधि दधि पड़ता हुआ तथा जिन भगवान्
को देखकर प्रसन्न होता हुआ भव्यों को कलिमल से मुक्त कर देता है।

सर्वौषधि से जिन भगवान् को नहलाने से कलिमल के रोग दूर
हो जाते हैं और सैकड़ों मनोवाञ्छित सिद्ध होते हैं। ऐसा मुनिगण कहते हैं।

दोहा नं. २०६ और २०७ के बीच अ प्रति में—

पारंभइं ण्हवणाइयइं जे सावय जि भणंति।
दंसण तेहं विणासियउ एत्थु ण कायउ भंति॥

(यह दोहा नं. २०४ से मिलता है)

दोहा नं. २२३ और २२४ के बीच क. प्रति में—

जो जिणसासण भासियउ सो मइं कहियउ सारु।
जो पालेसइ भाउ करि सो तरि पावइ पारु॥
एहु धम्म जो आयरइ चउवण्णहं मह कोइ।
सो णरु णारी भव्वयणु सुरयइ पावइ सोइ॥

धर्मइं बहुलइं झंसियइं तात्तु सूनइ जेण ।
यहु परमक्खरु चेर लइ कम्मक्खउ हुइ तेण ॥
भव्वयलग्गा सुवयण सुग्गइ गच्छइ तेण ।
जह दिट्ठियउ भयगयह कहिउ ण किज्जउ तेण ॥

अनुवाद-जो जिनशासन में कहा गया है वही सार मैंने कहा जो भाव करके इसको पालेगा वह तैर के पार पावेगा।

इस धर्म का चतुर्वर्ण में से कोई भी जो आचरण करेगा वह नरना भव्यजन सुरगति पावेगा।

बहुत प्रलाप करने से क्या जिससे तात्तु सूझे। इसी परमाक्षर को चिरकाल तक लेओ जिससे कर्मक्षय होवे।

भव्यों के जो सुवचन हैं उनसे सुगति को जाना है। जिससे भवगति ो देखना पड़े ऐसे कथन को नहीं करना चाहिये।

हा नं. २२४ के पश्चात् क. प्रति में—

इय दोहायछयपधम्मं देवसेनै उवदिट्ठ ।
लहु अक्खरमत्ताहीयमोपय सयण खमंतु ॥

अनुवाद-इति देवसेन द्वारा उपदिष्ट दोहाबद्ध श्रावधर्म। लघु अक्ष ो हीन जो पद हों उन्हें सज्जन क्षमा करें।

शब्दकोश

इस कोष में संज्ञायें विना विभक्ति के तथा क्रियायें यथाप्रयोग सम्मिलित की गई है और उनके संस्कृत रूपान्तर दिये गये है। जो संस्कृत शब्द हिन्दी में उपयुक्त नहीं होते उनके हिन्दी रूपान्तर या समानार्थ शब्द दे दिये गये हैं। जो शब्द कईवार एक ही अर्थ में आया है उसका एक ही दोहा नंबर दिया गया है।

निम्न लिखित संकेताक्षरों का प्रयोग किया गया है:—

गु. – गुजराती, पु. – पुरुष, म. – मराठी; मार. – मारवाडी; हेम – हेमचन्द्र कृत प्राकृत व्याकरण.

अ

अइदित्त – अतिदीप्त, १७२.

अइदूरुज्झिय – अतिदूरोज्झित, १७१.

अक्खामि – आख्यामि, कहता हू, १.

अक्खय – अक्षत, १६५.

अक्खिय – आख्यात, १७८.

अगालिअ – अगालित, विनाछना, ३७.

अगाह – अगाध, १८६.

अग्गि – अग्नि, आगी, ३६.

अचेयण – अचेतन, २१८.

अच्चइ – अर्चयति, पूजता है, १८५

अच्छउ – आस्ताम्, दूर रहे, २०.

अज्जु – अद्य, आज, ८८.

अज्झवसाय – अध्यवसाय, १२२.

अट्ठ – अष्ट, आठ, २०.

अट्ठम – अष्टम, आठवा, १५.

अट्ठमि – अष्टमी, १३.

अणतोरिय – अ+तुवरित, ५६.
(तुवरी - फिटकरी, म. तुरटी, alum.)

अ सि आ उ सा - अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, इन पंच परमेष्ठी का अन्याक्षर मंत्र, २१४.
असेस - अशेष, १६५
असोअ - अशोक (वृक्ष), १७१.
अह - अथ, २६
अह व - अथ वा, ६
अहम्म - अधर्म, अधर्मी, १०३.
अहाणअ - आभाणक, अहाना, २४
अहिलसइ - अभिलषते, इच्छा करता है, ४२.
अहिलसिअ अभिलषित, ३७
अहिलास - अभिलाष, ५१.
अंजणगिरि - अंजनगिरि २९.
अंतरि - अन्तरे, अन्दर, २२.
अंधार - अंधकार, ६.
अंब - आम्र, आम, १६०.

आ

आउ - आयातु, आवे, ५८.
आउसंत - आयुस्+अन्त, ७३.
आमिस - आमिष, मांस, २८.
आयरइ - आचरति, आचरण करता है, ७६.
आयहं - एषाम्, इनके, २२.
आयास - आकाश, ५७.
आरत्तिअ - आरात्रिक, आरती, १९७.
आराहण - आराधना, १९३. (भगवती आराधना नाम का ग्रंथविशेष)
आवइ - आयाति, आवे, ८८.
आवग्ग - आरूढ, बड़ा, १४८.
आवंति - आयान्ती, आती, १४५.
आसागय - आशा+गत, दिशागमन, ६६.
आसायअ - आस्वादित, ३१.
आसि - आसीत्, १५६.

इ

इकछिद्दिय - एक+छिद्रित, १६१.
इक्क - एक, ४३.
इक्कसअ - एकशत, २१६.
इच्छिय - इष्ट, १३०.
इच्छियलद्धि - इष्ट+लब्धि, ७१.
इणि - अनेन, इस से, २०५.
इत्तिय - इयत्, इतना, १०७.
इत्थु - अत्र, इसमें, ७१.
इयर - इतर, अन्य, ३८.

इंछिय - इष्ट्वा, इच्छा करके, ६१

इंदियगाम - इन्द्रिय+ग्राम, १४०

इंधण - इन्धन, २१९

उ

उक्किट्ठ - उत्कृष्ट, ७४.

उग्गमइ - उद्गच्छति, उदय हो, १०५.

उग्घाडंत - उद्+घाटयत्, उघाड़ने वाले, १३५.

उज्जल - उज्ज्वल, १११.

उज्जोइज्जइ - उद्+द्युत्यते, उजाला किया जाता है, १८४.

उज्जोयइ - उद्+द्योतयति, उजाला करता है, १९६.

उट्ठइ - उत्तिष्ठति, उठता है, २९

उट्ठावइ - उत्थापयति, उठाता है, २१७.

उट्ठिय - उत्थित, उठा हुआ, १५१.

उणाली - शाकविशेष, १४.

उण्णय - उन्नति, ११४.

उत्तमपइ - उत्तमपदे, °पदपर, ११४.

उत्तार - उत्तारण, उतार, १९२.

उत्तारंति उत्तारयन्ती, उतारती हुई ८६

उत्तिइज्ज - उत्तरीय, वस्त्र, १५१

उद्दिट्ठ - उद्दिष्ट, १६.

उप्पज्जइ - उत्पद्यते, उपजता है १७१

उप्परि - उपरि, ऊपर, १२६.

उप्पहिं - आत्मना, उपतकर ८४.

उप्पाडिअ - उत्पाटित, उपाड़ा, ४०.

उब्भासइ - उद्+भासयति, उभाड़ करता है ११६.

उम्मग्ग - उन्मार्ग, १४५

उर - उरस्, उर, ६०.

उल्हाविअ - आर्द्रित, आला (गीला) किया, ३९.

उवइट्ठ - उपदिष्ट, ११.

उवएस - उपदेश, ६.

उवएसिय - उपदिष्ट ८.

उवयरइ - उपकरोति, उपकार करता है, ११९.

उवयारहिं - उपकारय, उपकार कराओ, ११९.

उवयास - उपवास, ११.

उवयासब्भास - उपवास+अभ्यास ११९.

कणय – कनक, २११
कणिट्ठ – कनिष्ठ, सबसे छोटा ७९
कण्ण – कर्ण, कान, ११८
कत्तरि – कर्तरी, कैंची, १७.
कद्दम – कर्दम, कीच, १५१
कप्पड – कर्पट, कपड़ा, ५६
कप्पयर – कल्पतरु, ९७
कप्पयरु – कल्पतरु, २१२
कम – क्रम, १२.
कम्म – कर्म, १०९.
कम्मक्खअ – कर्म+क्षय, २१०
कय – कृत १७.
करइ – करोति, करता है, १८१
करउं – करोमि, करूं, ८८.
करड – वाद्यविशेष करटा, ३४.
करहि – कुरु, कर, ४.
करहिं – कुर्वन्ति, करते हैं, ५५
करालिय – करालित, १८३.
करि – कुरु, कर, २२.
करिणि – करिणी, हथिनी,१२३.
करेइ – कुर्यात्, करेगा, ६२.
कलंतर – कला+अन्तर, एक भाग ११५.
कलिंग – पक्षिविशेष, कलींदा, ३४.

कल्लाण – कल्याण, ८०.
[तीर्थंकर के गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण के उत्सव पंच कल्याण कहे जाते हैं।]
कल्लि – श्व, कल, ८८.
कवण – का, कौन, ४०.
कवित्त – कवित्व, १४२.
कवडअ – कपट, ६२.
कस – कषा, ७.
कसाय – कषाय, ६१.
कह – कथा, ४०.
कहिअ – कथित, ९.
कहिवि – कथयितुम्, कहने,२०[illegible]
कहिं – कुत्र, कहीं, २१५.
कंज – (तत्सम), कमल, १२[illegible]
कंजिय – कांजी, (Butter milk,) ११३.
कंटअ – कंटक, १४५.
कंदि – रूक्ष, शुष्क, सूखा, १[illegible]
काअ – काय, शरीर, ११३.
काइं – किम्, क्या, ६२.
काणण – कानन, वन,
कामक्कू – काम+
कामि[illegible] – का[illegible]

कायउ – कापि, कोई भी, १८९.
कारावियं – कारित, कराई, १९२.
कारियइ – कार्यते, कराया जाता है, २४.
कालत्तय – काल+त्रय, ५.
कासु कस्य, किसे, १७८.
कि – किम्, क्या, ६.
किअ – कृत, किया, ३७.
कित्ति – कीर्ति, १४२.
कित्तिअ – कियत्, कितना, १८३
कित्तिअ – कियत्ता, कितनापन, ११०.
किम – किम्, कैसे, ५६.
किमि – किम्, कैसे, ६७.
किय – कृत, किया, १५५.
किलेस – क्लेश ४८
किविण – कृपण, ८९.
कीरइ – क्रियते, किया जाता है, २४.
कुडिल्लिय – कुण्ड, ११२.
कुडुंब – कुटुम्ब, ४८.
कुणंति – कुर्वन्ति, करती, २११.
कुपत्त – कुपात्र, ८१.
कुभोअ – कुभोग, ८१
कुभोयण – कुभोजन ९३.
कुमुयाणंदिणि – कुमुदानन्दिनी, १११.
कुलयर – कुलकर, १६६.
कुसियार – कोशकार, कुसियार, (रेशम का कीड़ा) १४६
कुसुमंजलि – कुसुमाञ्जलि, १११.
कूड – कूट, ४९.
कूडतुला – कूटतुला, कपटतराजू, १६२.
कूवखणय – कूप+खनक, १०२.
कूवय – कूप+क, कुआ, ९९.
केम – किम्, कैसे, ११८.
केवलणाण – केवलज्ञान (सर्वज्ञता) ५.
कोइ – कोऽपि, कोई, ६.
कोवीण – कोपीन, १७.
कोहमल – क्रोध+मल, १११.

ख

खअ – क्षय, ६९.
खडभुस – घास+भुस, घासभुसा, ९१.
खडहड – शिला+पटा, पाषाणसमूह म. खडक–पाषाण, १५४.

गिहत्थ – गृहस्थ, ८७.
गिंदुअ – कंदुक, गेंद, १५३.
गिंभ – ग्रीष्म, ६९.
गुणवय – गुणव्रत, ११ (दिशाओं व देश प्रदेश में जाने का प्रमाण, तथा अनर्थ दण्ड का त्याग, ये तीन गुणव्रत कहलाते हैं).
गुणवंत – गुणवन्, गुणवान, १४१
गुलिय – गुलित, गुड़ीला (मीठा) १३३.
गुंजारिय – गुंजारित, गुंजार, २१५.
गेय – (तत्सम), गीत, १२७.
गेहोवरि – गेह+उपरि, १०२.
गोत्त – गोत्र, ४८.
गोयहि – गोपय, गोप या गु'तरक्ष, १२१.

घ

घडंति – घटायन्ते, घटयुक्त होते हैं, ९९.
घम्म – घर्म, घाम, १०३.
घयपय – घृत+पयस्, घी दूध, १८१.
घर – गृह, ८७.
घरयर – गृहकर, घर बनानेवाले, १०२.
घल्लइ – क्षिपति, घालता है, १६९.
घंट – घंटा, १९९
घाअ – घात, घाव, ६०.
घाणिंदिय – घ्राणेन्द्रिय, १२५.
घाय – घात, ७
घारइ – मूर्च्छयति, मूर्च्छित करती है, ५०, म. घेरी मूर्च्छा.
घिय – घृत, घी ३२.
घूयड – गुग्गुल, घुग्घू, १०५.

च

चइवि – व्यक्त्वा, चयकर या त्याग कर, ७३.
चउगइ – चतुर्गति, १३४.
चउत्थ – चतुर्थ, १३.
चउद्दसि – चतुर्दशी, १३
चउरट्ठ – चतुरष्ट, (बत्तीस), १२.
चउविह – चतुर्विध, १५८.
चउसट्ठि – चतुःषष्ठि, चौसठ, १०६
चक्कि – चक्रिन्, चक्रवर्ती, १००.
चक्खइ – चषति, चखता है, ११०
चच्चइ – चर्चयति, पूजता है, १८४
चडप्फडहि – परिस्फुरति, तड़फड़ाते हैं, १८४.

चडप्पाडिपि – चंपकपुष्प, लड-पडाग, ११४.
चडहि – आरोहति, चढ़ते है, १०२.
चणारंभ – क्षण+आरम्भ, उत-सवादी, १५
चम्मचट्टम – चर्मच्छादित, ११.
चम्मट्ठिपुर – चर्म+अस्थि+पुर, ११
चवरि – चत्वर, चार, ११.
चरिअ – चरित, ११२.
चरित्त – चरित्र, २१४.
चलण – (लक्षण), चरण, १७१
चलिय – चलित, १५.
चल्लंत – चलत्, चलनेवाला, १४५.
चवडि – झूँड, बोल (धातु-बच) ६१.
चंडाल – चण्डाल, १११.
चंदकंति – चन्द्रकान्त (मणि), ११७.
चंदण – चन्दन, १५०.
चंदोय – चन्द्रोदय, चंदेवा, १६८.
चाअ – त्याग, २५.
चाहदि – इच्छति, चाहता है, १५१
चिराउस – चिरायुष, चिरायु, १५६.
चिहुर – चिकुर, केश, १७.
चिंध – चिह्न, ध्वज, १००.
चोज्ज – आश्चर्य, अचंभा, १००.
चोरट्टा – चोर, चोर, ७५.

छ

छट्टय – षष्ठ, छठा, १४
छड्डिय – छर्दित, छोड़ा, १९.
छणजामिणि – क्षण+यामिनी, पूर्णिमा रात्रि, १६९.
छणससि – क्षण+शशि, पूर्णिमा चन्द्र, १७७.
छत्त – छत्र, १५७.
छद – पद, छद, २०
छंडड्ड – छर्दय, छोड़ो, १७५.
छंडि – छर्दय, छोड़, ६७.
छंडिय – छर्दित, छोड़ा, २५.
छंडेइ – छर्दयेत्, छोड़े, ६१.
छिज्जउ – क्षीयताम्, क्षय होवे, ११५
छित्त – स्पृष्ट, छुआ, १११.
छुडु – यदि, ५८.
छेय – छेद, ७.

ज

जइ – यदि, २५.

णियस्सर – निस्सरति, बगल है, ५४.

णियारदि – निवारय, निवार, १२६.

णिवाण – निवाण, १४२.

णिविट्ठ – निविष्ट, बैठा, ६१

णिवित्ति – निवृत्ति, १०.

णिव्वाण – निर्वाण, ५१.

णिव्वाद – निर्वात, १४९

णिस्सेणि – निश्रेणी, नसेनी, ५०.

णिहाण – निधान, ८०.

णीत – नयत्, ले जाया हुआ, ८५.

णेन्ति – नयन्ति, ले जाते हैं, ५९.

[illegible]द्दिश – निन्दित, २१८

णीर – नीर, पानी, १६.

[illegible] – निर्दि[illegible], ७०.

णेह – स्नेह, १५१.

णेवज्ज – नैवेद्य, १८०.

पढमणाइय – प्रथमादिक, १०४.

पद्दविज्जइ – प्राप्यते, नहलाया जाता है, १८१.

ण्हाण – स्नान, १११.

ण्हावइ – स्नापयति, नहलाता है, १८१.

ण्हाविज्जइ – स्नाप्यते, नहलाया जाता है, १६८.

ण्हाविय – स्नापित, नहलाया गया, १६८.

ण्हाविय – स्नापयित्वा, नहलाकर, १८२.

त

तउ – ततः, तो, ७.

तउमंडण – तपोमंडित, २१

तग्गंथिय – तद्+ग्रन्थि, गांठ, २२०.

तच्चाइय – तथ्य+आदिक, १८.

तडत्ति – तड् इति शब्देन, तड् से, १००.

तणइ – (सम्बन्ध सूचक), २०५.

तणु – तनु, शरीर, १०७.

तमोहारिणि – तमोहारिणी, ११[illegible]

तमिण – तमना, तम से, २.

तरइ – तरति, तरता है, ११४.

तरिहदि – तरिष्यसि, तरेगा, [illegible]

तरंड – (तरण), डोंगी, १[illegible]

तलाय – तडाग, तलाव, १[illegible]

तवयरण – तपश्चरण, ७२.

तस – त्रस (जैसा की–

द

दट्ठ – दष्ट, डसा हुआ, ६१.
दम्म – द्राम, एक सिक्का, ११५.
दय – दया, ४०.
दसम – दशम, दसवाँ, १६.
दहिमहिद – दधि + मथित, दही मही, १५
दंसण – दर्शन (सम्यग्दर्शन, धर्म-श्रद्धा), ३०.
दंसणसुद्धि – दर्शन+शुद्धि, १२.
दाण – दान, ७०
दाणच्चण – दान+अर्चन, ११७.
दाणंघिव – दान+अंघ्रिप, दानवृक्ष, ८२.
दायार – दातृ, दाता, ८५.
दारिय – दारिका, लड़की, ४५.
दालिद्द – दारिद्र्य, १८७.
दालिद्दड – दारिद्र्य, ९१.
दालिद्दिय – दरिद्रिन्, दरिद्री, १४८.
दावाणल – दावानल, २१४.
दिज्जइ – दीयताम्, देना चाहिये, ७०.
दिट्ठ – दृष्ट, देखी गई, ५७.
दिट्ठि – दृष्टि, ६१
दिट्ठिविस – दृष्टिविष (सर्प-विशेष), ६१
दिणयरतम – दिनकर+शत, सौ सूर्य, १०५.
दिणेस – दिनेश, सूर्य, ६९
दिण्ण – दत्त, दिया हुआ, ८१.
दिण्णइ – दीयते, दिया जाय, ८१
दिंति – ददति, देते हैं, १९०.
दिवि – (स्थान) स्वर्ग में, १११.
दिव्वंवर – दिव्य+अम्बर, २०१.
दिस – दिशा, ६६
दीव – दीप, १८८.
दीवड – दीपक, ६.
दीसइ – दृश्यते, देखी जाती है, ८५.
दुक्कर – दुष्कर, ६४.
दुकिय – दुष्कृत, १३.
दुग्ग – दुर्ग, दुर्गम, १४८.
दुज्जण – दुर्जन, ३.
दुट्ठभरण – दुष्ट+भरण, ६७.
दुण्णिसयइं – द्वि+शत, दो सौ, २२२.
दुत्तर – दुस्तर, २११.
दुत्तरतरणि – दुस्तर+तारिणी, २११.

पसुभार – पशुभार, ६७.
पसुइ – प्रसूति, १८५.
पहनेभ – प्रभा+नेत्र, १६७.
पहाण – प्रधान, २७.
पहिल्ल – प्रथम, पहला, १७.
पंरि – पक्षिन्, ८७.
पंचगुरु – अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु. ये पंचगुरु या पंचपरमेष्ठी कहलाते हैं, १
पंचाणुव्वय – पंच+अणुव्रत, ११ (गृहस्थों के पालने योग्य अहिंसा, अचौर्य, सत्य, ब्रह्मचर्य व परिग्रहप्रमाण).
पंचुंबर – पच+उदुम्बर, १० (बड़, पीपल, पाकर, ऊमर और कठूमर)
पंडिय – पाण्डित्य, १५९.
पंडुर – पाण्डुर, श्वेत, १७७.
पाअ – पाद, पांव, १४५.
पाअ – पाप, २०७.
पाण – प्राण, ५०.
पाणिअ – पानीय, पानी, ८९.
पाणिय – पानीय, पानी, १८.
पाय – पाद, पांव, ११७.
पायड – प्रकट, ६.
पायपसारण – पाद+प्रसारण, पांव पसारना, १४९.
पारद्धि – पापर्द्धि, शिकार, ४७.
पारद्धिअ – पापर्द्धिक, पारधी, ४६.
पारोह – प्ररोह, २००.
पालिअ – पालित, ६६.
पाव – पाप, १०१.
पावइ – प्राप्नोति, पाता है, १८१.
पावमइ – पापमति, १०६.
पावहारि – पापहारिणी, १९९.
पाविय – पापिन्, पापी, १६५.
पाविज्जइ – प्राप्यते, पाया जाता है, ९२.
पास – पाश, दोलने के पाये, ६८.
पास – पाश, बन्धन, २१२.
पासट्ठिय – पार्श्वस्थित, १७६.
पिच्छइ – प्रेक्षते, देखती है, १६७.
पिंड – पिण्ड, ८.
पिय – पीत, पिया, २७.
पियइ – पिबति, पीता है, २६.
पिसुण – पिशुन, १५१.
पिसुणत्तण – पिशुनत्व, १४४.
पिसुणमइ – पिशुनमति, १५०.
पिंछइ – परिछिनत्ति, पहिचानता है, ६.

पसुभार - पशुभार, ६७.
पसूइ - प्रसूति, १८५.
पहतेअ - प्रभा+तेज, १६०.
पहाण - प्रधान, २७.
पहिल - प्रथम, पहला, १७,
पंति - पङ्क्ति, ८७.
पंचगुरु - अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु,ये पंचगुरु या पंचपरमेष्ठी कहलाते हैं, १
पंचाणुव्वय - पंच+अणुव्रत, ११. (गृहस्थों के पालने योग्य अहिंसा, अचौर्य, सत्य, ब्रह्मचर्य व परिग्रहप्रमाण).
पंचुंबर - पंच+उदुम्बर, १० (बड़, पीपल, पाकर, ऊमर और कटूमर)
पंडिय - पाण्डित्य, १५६
पंडुर - पाण्डुर, श्वेत, १७७.
पाअ - पाद, पाव, १४५.
पाअ - पाप, २०७.
पाण - प्राण, ५०.
पाणिअ - पानीय, पानी, ८९.
पाणिय - पानीय, पानी, १८
पाय - पाद, पांव, ११७.
पायड - प्रकट, ६.
पायपसारण - पाद+प्रसारण, पांव पसारना, १४९.
पारद्धि - पापर्द्धि, शिकार, ४७
पारद्धिअ - पापर्द्धिक, पारधी, ४६.
पारोह - प्ररोह, २००.
पालिअ - पालित, ६६.
पाव - पाप, १०१.
पावइ - प्राप्नोति, पाता है, १८१.
पावमइ - पापमति, १०६.
पावहरि - पापहारिणी, १६६.
पाविय - पवित्र, पापी, १६५.
पाविया - प्राप्यते, पाया जाता है, ९२.
पास - पाश, खेलने के पांसे, ६८.
पास - पाश, बन्धन, २१३.
पासट्ठिय - पार्श्वस्थित, १७६.
पिच्छइ - प्रेक्षते, देखती है, १६७.
पिंड - पिण्ड, ८.
पिय - पीत, पिया, १७.
पियइ - पिबति, पीता है, २६.
पिसुण - पिशुन, १५१.
पिसुणत्तण - पिशुनत्व, १४४.
पिसुणमइ - पिशुनमति, १५०.
पिंछइ - परिछिनत्ति, पहिचानता है, ६.

पीय – पीत, पिया, ३२.
पुग्गल – पुद्गल, शरीर, २०५.
पुच्छिज्जइ – पृच्छयते, पूछा जाय, १२८.
पुच्छिय – पृष्ठ, १६.
पुज्ज – पूजा, १५६.
पुट्ठि – पृष्ठ, पीठ, ९३.
पुट्ठिमंस – पृष्ठमांस, ४१.
पुणु – पुनः ५.
पुण्ण – पुण्य, २३.
पुण्णरासि – पुण्यराशि, २०७.
पुत्त – पुत्र, १२०.
पुरिस – पुरुष, १४२.
पुव्व – पूर्व, पहले, १५४.
पुव्वाइरिय – पूर्वाचार्य, १२.
पुंडरिय – पुण्डरीक, छत्र, १००
पूआइय – पूजादिक, २१०
पूरहिं – पूरयन्ति, पूरा करते हैं, १७.
पेक्खह – पश्य, देखो, ५१.
पेक्खिस – पश्य, देखो, ११४
पेम्म – प्रेम, २१५.
पेम्मिअ – प्रेमी, १०१
पेसिय – प्रेषित ६२.
पोट्ट – उदर, पेट, म. पोट, १०१.
पोट्टलि – पोटलिक, पोटली, १०९.
पोत्थय – पुस्तक, पोथी, १५१.
पोरिस – पौरुष, १४२.
पोसिय – पोषित, ६५.

फ

फरसिंदिअ – स्पर्शेन्द्रिय, १२३.
फलइ – फलति, फलता है, ७०.
फलिहसंकास – स्फटिक+सदृश, २११.
फाटइ – स्फुटति, फटता है, १४६
फुट्टिवि – स्फुटित्वा, फूटकर, १००
फुल्लिय – पुष्पित, फूला हुआ, १५.
फुल्लत्थाण – पुष्पस्थान, १४.
फोडिअ – स्फोटित, फोड़ा, २२०.

ब

बइसण – बैठन, बैठने से १०.
बउल – बकुल, बकुल (एक विशेष वृक्ष)
बल्लहडा – बल्लहर्ड वैल, ११०
बलिय – बलीयस् बली, १००
बहिणि – भगिनी, बहिन, ४२
बहुअ – बहु, बहुत, ९१.
बहुमेय – बहुमेद, ६१

मणागच्छ – मनाग् + अच्छ, कुछ अच्छा; या, मण + गच्छ, मन जा, १२७.
मण्णमि – मन्ये, मानता हूं,११८.
मण्णि – मन, म.न, (धातु-श्रा), ११.
मण्णिय – मानित, २४.
मणुय – मनुज, ११४.
मणुयगइ – मनुज + गति, १६१.
मणुयत्तण – मनुजत्व, ३.
मणोरह – मनोरथ, ११०.
मय – मद, २०.
मयण – मदन,मैन (Bee's wax), ६७
मरइ – म्रियते, मरता है. १४१.
मरगअ – मरकत, २.
मरंत – म्रियमाण, मरता हुआ,७१
महइ – महति, पूजता है, १८०.
महंत – महत्, २१.
महारयण – महारत्न, २०८.
महु – मधु, ११.
महुर – मधुर, १४१.
मंजर – मार्जार, बिल्ली, ४०.
मंजिट्ठ – मंजिष्ठ, मंजीठ, ५६.
मंड – मण्डित, १०६.

मंडिय – मण्डित, मांडना, २०१.
मंत – मंत्र, ११५.
मंति – मंत्रिन्, मांत्रिक, ११०.
मंदकसाय – मन्द+कषाय, १६१.
मंस – मांस, ११.
माइ – माति, माता, ११०.
माइंदिणय – माईफल + निंब (वृक्षविशेष) १६०.
माण – मान, ६२.
माणाइय – मान+आदिक, १६१
माणुस – मनुष्य, ५४
माणुसजम्म – मनुष्यजन्म, ९.
मारइ – मारयति, मारता है, ६३.
माहउररण – मधुररण (वसे लागुणसी व बिन्दुभक्त), १०१.
मि – अपि, भी, ५९
मिच्छत्त – मिथ्यात्व, ११६.
मिच्छादिट्ठि – मिथ्यादृष्टि, ०२
मिच्छाभाव – मिथ्याभाव, १४४.
मित्त – मित्र, ४४.
मिलिअ – मिलित, मिला, ११८.
मिलाइ – म्लाय, घेर, १०४.
मिहिर – कुष, मेल का ढेर ११४.
मिस्स – मिश्र, १०५.

रयामरा - रयामक, १२६.
रेहइ - राजते, विराजता है, १७४.
रेहइ - राजते, विराजता है, ११६.
रोस - रोष, ११८.
रोहिणि - रोहिणी (उपवास विशेष) १८८.

ल

लउडिय - लकुटी, लकड़ी, १४८.
लक्खण - लक्षण, लाभ, ६७.
लग्ग - लग्न, लगा, १८
लग्गइ - लगति, लगता है, ४४.
लच्छि - लक्ष्मी, १८७.
लच्छिम - लक्ष्मी, १४१, १११.
लद्धि - लब्धि, लाभ, ४७.
लब्भइ - लभ्यते, लाभ होता है, ७१.
लब्भंति - लभन्ते, पाते हैं, २०१
लहंति - लभन्ते, पाते हैं, ११
लहिवि - लब्ध्वा, लेकर, ८०
लहु - लघु, १००.
लंपड - लम्पट, ११५
लाल - लाला, ८८, १४६
लालि - लालय, लाड कर, १११
लालिय - ललित, १११
लाह - लाभ, १११
लित्त - लिप्त, ११.
लिहावियं - लेखित, लिखाया, २०२.
लिहिय - लिखित, २०१.
लिहिवि - लिखित्वा, लिखकर, ४२.
लुग्ग - भग्न, जीर्ण, मार. लगा, १४९.
लेइ - लाति, लेता है, ९०.
लेहु - लाहि, लेओ (करो) ११९.
लोइ - लोके, लोक में, ११५.
लोणि - नवनीत, मक्खन, ९८, म लोनी.
लोय - लोक, २०२.
लोयण - लोचन, ११८.
लोयणि - लवनी, छबनी वा (उतरा ?) १७.
लोह - (लवण), लोहा, ६०
लोह - लोभ, ११४.
लोहवश्रि - लोह+घाये, लोहे के लिये, १११.
ल्हसुण - लसुन, लहसुन, १४.

व

वइसानर - वैश्वानर, अग्नि, ९१

मीसिअ – मिश्रित, ३६.
मुअ – मृत, मुआ या मरा, १२४.
मुइवि – मुक्त्वा, छोड़कर, ३७.
मुक – मुक्त, १५.
मुक्ख – मूर्ख, १०६
मुचइ – मुच्यते, मुक्त होता है, ४४
मुणि – मन, स्तुतिकर (धातु – मा, या मुण्) १०८.
मुणिय – मुणित, ज्ञात कथित या, (धातु–मुण प्रतिज्ञाने) ५
मुणिंद – मुनीन्द्र, ७९.
मुणेइ – मन्येत, माने, ११६.
मुत्तिअ – मौक्तिक, मोती, ११.
मुललिअ – मुलित, मूलयुक्त, ३५.
मुह – मुख, मुँह, ११८.
मुहु – मुहु, बार बार ४२.
महुत्त – मुहूर्त, २८.
मूढा – मूढ़ता, २०.
मेहि – मुक्त्वा, छोड़कर, १२०.
मेल्लिवि – मुक्त्वा, मेलकर या छोड़कर, १३७.
मोक्खलिय – मुक्त, ६६.
मोक्ख – मोक्ष, ७४.
मोडइ – मुञ्चेद, मोड़े, ११०,
मोत्तिय – मौक्तिक, मोती
मोहिय – मोहित, १३६

र

रइ – रति, १२६.
रक्खहु – रक्ष, रखाओ,
रक्खिज्जइ – रक्ष्यते, रखा

रज्ज – राज्य, २००.
रडइ रटति, रटती है, १७
रय – रज, रज, १८३.
रयइ – रचयति, रचता है,
रवण्ण – रमणीय, ९१.
रसंति – रसन्ती, बजनी हुई,
रहंति – रहयन्ते, रहते हैं,
रहिअ – रहित, ५.
रंध – रन्ध्र, छिद्र, ३.
राइय – राजित, १०१.
रामण रावण, ३, ६३.
रिसि – ऋषि, ५१.
रुक्खडा – वृक्ष, रूख, ११०.
रुव्वइ – रुध्यते, रोका जाना १४०.
रुहिरामिस – रुधिर+आमिष,
रूप – रूप, १३६.

रुयासत्त – रूपासक्त, १२६.
रेहइ – राजते, विराजता है, १७४.
रेहइ – राजते, विराजता है, ११६.
रोस – रोष, २१८.
रोहिणि – रोहिणी (उपवास विशेष) १८८.

ल

लकडिय – लकुटी, लकड़ी, १४८.
लक्ख – लाक्षा, लाख, ६७.
लग्ग – लग्न, लगा, ३८.
लग्गइ – लगति, लगता है, ४४.
लच्छि – लक्ष्मी, १८७.
लच्छिम – लक्ष्मी, १४३, १९१.
लद्धि – लब्धि, लाभ, ४७.
लब्भइ – लभ्यते, लाभ होता है, ७१.
लब्भंति – लभन्ते, पाते हैं, २०३.
लहंति – लभन्ते, पाते हैं, ९६.
लहिवि – लब्ध्वा, लेकर, ८०.
लहु – लघु, २०७.
लंपड – लम्पट, १२५.
लाल – लाला, लार, १४[illegible]
लालि – लालय, [illegible]
लालिम – ल[illegible]
लाह – लाभ,

लित्त – लिप्त, ३१.
लिहाविय – लेखित, लिखाया, २०२
लिहिय – लिखित, २०१.
लिहिवि – लिखित्वा, लिखकर, ४२.
लुग्ग – भग्न, जीर्ण, मार. लग्न, १४६.
लेइ – लाति, लेता है, ९०.
लेहु – लाहि, लेओ (करो) ११९.
लोइ – लोके, लोक में, ११५.
लोणि – नवनीत, मक्खन, २८, म लोनी.
लोय – लोक, २०२.
लोयण – लोचन, ११८.
लोयणि – लवनी, लुधनी वा (उत्तरा !) १७.
[illegible] – (तत्सम), लोहा, ६७.
– लोभ, ११४.
[illegible], लोहे के
[illegible] २१.
[illegible]न, ३४.
[illegible]
अग्नि, ३१

टिप्पनी

७. बृहन्निघण्टुरत्नाकर में उत्तम सुवर्ण की परीक्षा इस प्रकार बतलाई गई है–

> दाहे रक्तं सितं छेदे निकषे कुंकुमप्रभम्।
> तारं शुल्वोज्झितं स्निग्धं कोमलं गुरु हेम सत्॥
> तच्छ्वेतं कठिनं रूक्षं विवर्णं समलं दलम्।
> दाहे छेदे सितं श्वेतं कषे त्याज्यं लघु स्फुटम्॥

पृ. ३९१

८. चोरहं पिडि विपडंति– हिन्दी का महावरा भी यही है– चोरों के पिंड में पड़ना या पाले पड़ना। म. प्रति की टीका में 'पिडि' का अर्थ 'पथि' अर्थात् 'मार्ग में' किया गया है।

९. श्रावक अर्थात् जैन गृहस्थ के संयम की वृद्धि के अनुसार ग्यारह दर्जे हैं जिन्हें श्रावकों की ग्यारह प्रतिमा कहते हैं। दोहा नं. १० से १७ तक इन्हीं प्रतिमाओं के लक्षण बतलाये गये हैं।

१०. 'पंच उदुम्बर' कोष में देखिये। व्यसन सात माने गये हैं, जो इस प्रकार हैं–

> द्यूतं मांसं सुरा वेश्याखेटं चौर्यं पराङ्गना।
> महापापानि सप्तानि व्यसनानि त्यजेद् बुधः॥

इनके त्याग का उपदेश दोहा नं. ३८ से ५१ तक पाया जायगा।

सुहिय – सुखिन्, सुखी, २.
सुणी – शुनी, कुत्ती, १४०
सूर – सूर्य, ३७.
सूरण – कन्दविशेष, सूरन, ३४.
सूरि – (तत्सम), ७.
सूरुग्गमण – सूर्योद्गम, १४०
सेहर – शेखर, २२३.
सो – स, वह, २८.
सोअ – शोक, १७१.
सोइ – सोऽपि, ७
सोक्ख – सौख्य, ७४,
सोसइ – शोषयति, सोखता है, ६९
सोहग्ग – सौभाग्य, १८९

ह

हउं – अहम्, हूं (मैं), ११८.
हक्कार – आह्वान, हक्कार या हाक, ८८.
हक्कारइ – हो, इति शब्देन आह्वयति, हाका लगाता है. १७५.
हणइ – हन्ति, हनता है, ४६
हणेइ – हन्यात्, हनेगी, ४८.
हत्थ – हस्त, हाथ, ११०
हत्थिय – हस्तिन्, हाथी, १२१
हयतम – हत+तमस्, १७२
हरिणउल – हरिण+कुल, २१५.
हरिय – हरित, हरा, १४.
हरिसिय – हृष्ट, १७६.
हवेइ – हवेत्, होगा, ६२.
हलुव – लघुक, ११४, ११५. (हेम २, १२२.)
हवइ – भवति, होता है, ८७.
हवसि – भवसि, होता है, १५५.
हवंति – भवन्ति, होते हैं, १७७.
हंसउल – हंसकुल, १३९
हारिअ – हारित, हराया, ८४.
हिय – हृत, १७.
हियइच्छिअ – हृदय+इष्ट, १०१.
हियकण्णडा – हृत+कर्ण, १२७.
हियकमलिणि – हृदय + कमले, २१३.
हियडा – हृदय, ५८.
हियमहुर – हृदय+मधुर, १७८.
हियपंचल – हृदय+अञ्चल, २०८
हियवअ – हृदय, ५३.
हुआउ – भवतु, होवे, २२४.
हुयास – हुताश, आग, ३८.
हुयासण – हुताशन, ९८
हुय – भूत, हुई, १०९
हुयअ – भूत, हुआ, १५३
हुंति – भवन्ति, होते हैं, १८.
होइ – भवति, होता है, ६.
होउ – भवतु, होवे, २.
होसि – भवसि, होता है, १५६.
होहि – भव, हो, ११९.

टिप्पनी

७. बृहन्निघण्टुरत्नाकर में उत्तम सुवर्ण की परीक्षा इस प्रकार बतलाई गई है–

दाहे रक्तं सितं छेदे निकषे कुंकुमप्रभम्।
तारं शुल्वोज्झितं स्निग्धं कोमलं गुरु हेम सत्॥
तच्छ्वेतं कठिनं रूक्षं विवर्णं समलं दलम्।
दाहे छेदे सितं श्वेतं कषे त्याज्यं लघु स्फुटम्॥

पृ. ३९१

८. चोरहं पिट्टि विपडंति– हिन्दी का मुहावरा भी यही है– चोरों के पिंड में पड़ना या पाले पड़ना। म. प्रति की टीका में 'पिट्टि' का अर्थ 'पथि' अर्थात् 'मार्ग में' किया गया है।

९. श्रावक अर्थात् जैन गृहस्थ के संयम की वृद्धि के अनुसार ग्यारह दर्जे हैं जिन्हें श्रावकों की ग्यारह प्रतिमा कहते हैं। दोहा नं. १० से १७ तक इन्हीं प्रतिमाओं के लक्षण बतलाये गये हैं।

१०. 'पंच उदुम्बर' कोष में देखिये। व्यसन सात माने गये हैं, जो इस प्रकार हैं–

द्यूतं मांसं सुरा वेश्याखेटं चौर्यं पराङ्गना।
महापापानि सप्तानि व्यसनानि त्यजेद् बुधः॥

इनके त्याग का उपदेश दोहा नं. ३८ से ५१ तक पाया जाता है।

सम्मत्त– सम्यक्त्व– का शब्दार्थ शुद्धता या यथार्थता है। जैन
में इस शब्द का प्रयोग सम्यग्दर्शन अर्थात् सच्ची दृष्टि के अर्थ में किया
है। सम्यग्दर्शन की परिभाषा यह है–

श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्।
त्रिमूढापोढमष्टांगं सम्यग्दर्शनमस्मयम्॥
(रत्नकरण्डश्रावकाचार, ४)

'परमार्थ अर्थात् जैन सिद्धान्त के सात तत्वों तथा देव,
और मुनियों में तीन मूढ़ता और आठ मद से रहित, श्रद्धान को सम्यग्
कहते हैं। इस सम्यग्दर्शन के आठ अंग हैं।' यही लक्षण दोहा नं. १९
में कहे गये हैं। दोहा नं. ५३ भी देखिये। सम्यग्दर्शन के आठ अंगों
लिये देखिये 'रत्नकरण्डश्रावकाचार' ११-१८.

११. पंचाणुव्वय– पंच अणुव्रत– कोष देखिये। पांच अणुव्रत,
गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत, इन बारह व्रतों का उपदेश दोहा नं ५९ से
तक पाया जायगा।

१२. सामायिक– के अनादृतादि बत्तीस दोषों के लिये देखि
'मूलाचार' गाथा ६०३–६०७

१७ 'कत्तरिलोयणिहियचिहुर' –'कर्तरी लवना वा ह
चिहुराः येन सः'। भ. प्रति की टीका में 'लोयणि' का अनुवाद 'लौंचनि
से किया गया है जिसका अर्थ या तो लौंचने का शस्त्र उस्तरादि हो सकता है य
हस्तलौंच।

१९. जैनियों के सात तत्त्वों के विवरण के लिये देखिये बैरिस्टर
चम्पतरायकृत 'Practical Path.'

२०. सम्यक्त्व के शंकादिक आठ दोष ये हैं– शंका, कांक्षा, जुगुप्सा (घृणा)

मूढदृष्टि (मिथ्यामत में श्रद्धान), तथा उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना का अभाव.

कुल जाति, रूप, बल, तप, संपत्ति और विद्या इनके अभिमान को मद कहते हैं।

कुदेव, कुदेव और कुशास्त्र की श्रद्धा का नाम मूढता है। इन तीनों तथा इन तीनों के उपासकों को जो मानना है वह अनायतन कहलाता है।

२३. उपर्युक्त दोहे में कहे हुये मद्य, मांस और मधु में से प्रथम दो का वर्णन न कर इस दोहे में एकदम तीसरे का प्रसंग छेड़ा गया है। इसी कमी को पूरा करने के लिये भ प्रति में दो दोहे जोड़े गये हैं (देखो परिशिष्ट) कवि ने संभवतः उन्हें यहां इसलिये छोड़ दिया है कि उनका वर्णन आगे सात व्यसनों में आने वाला है (देखो दोहा ४१-४३)।

२४. इस दोहे का प्रथम चरण भ. प्रति में इस प्रकार है 'अणुवय अट्ठइं मणियइं'। इसका अर्थ होता है 'आठों' अणुव्रतों के मानने से (मधु का परिहार होता है)। किन्तु यह पाठ उपयुक्त नहीं जान पड़ता क्योंकि एक तो अणुव्रत आठ नहीं हैं पांच हैं जो द्यूत, मांस और मधु के साथ सहित अणुव्रत नहीं मूलगुण कहलाते हैं। और दूसरे इस अर्थ से दूसरी पंक्ति की कुछ सार्थकता नहीं बैठती।

२५ 'सव्वइं' पाठ केवल प प्रति में है शेष सब प्रतियों में 'सागइं' पाठ है। भ. में भी 'सागइं' है और उसके अर्थ में कहा गया है 'सहित-नाविद्रुसुमानि अपि त्यागं करोति'। यदि इसका अर्थ हम शाक (साग) करें तो अच्छा होगा। तदनुसार प्रथम चरणका अनुवाद होगा 'शाक और फूलों को छोड़ देने से' इत्यादि।

२७. प्रथम पंक्ति का अर्थ भ प्रतिकी टीका में इस प्रकार किया गया है— न (यः) अगालितजलं,हे जीव, अर्थ धारया यदि न प्रयादं निन्दां

क्रियापद 'हुंति' और विशेषण 'सुगाई' बहुवचन में है। अ. द. और म. प्रतियों में 'भोयणं' ही पाठ है।

१४ 'मूरउ पाली' पढ़ना ठीक होगा। अ प्रति की टीका में इसका अर्थ 'मूल हरिद्रादि कमलनालिका' ऐसा किया गया है। इस पंक्ति का देवदासमनीकृत क्रियाकोष की इस पंक्तिसे मिलान कीजिये–

'तजि केदार तुंबड़ी सदा खाहु म नाली किस तुम कदा'।

प्र प्रति में बिस की जगह टिस पाठ है। कमलनाल की साक को कई जगह दिस या टेस अभी कहते हैं। म. प्रति में बिस पर टिप्पण है 'कमलगड' तथा 'स्याणयहिं' की जगह 'छाणयहिं' पाठ है और दूसरी पंक्ति की टीका है 'सूरण-कंद-फूल-अथाणकं पतेषां खादिते सति सम्यक्त्वं मलिनं भवेत्'। 'अथाणय' से संभवतः अथाना (अचार Pickles) का तात्पर्य है।

१५. अ प्रति में 'मुलडिउ' के स्थान पर 'मुलिउ' पाठ है और उसपर टीका है 'अन्यं यत् मुलितं पुलसंयुक्तं' इत्यादि। मुलित से संभवतः अंकुरित का तात्पर्य है। 'मुलडिउ' से मउल या मुकुलित (बौंड़ी) का तात्पर्य भी कदाचित् हो सकता है।

४१. 'पुट्ठिमंस' से यहां कवि का क्या अभिप्राय है यह स्पष्ट समझ में नहीं आया। क्या पीठ का मांस बहुत स्वादिष्ट होता है इसमें मांस भोजियों को उसका छोड़ना कठिन है? पृष्ठमांस का एक अर्थ संस्कृत में पिशुनय अर्थात् चुगलखोरी भी होता है, यथा–

> प्राक् पादयोः पतति खादति पृष्ठमांसं।
> कर्णे कलं किमपि रौति शनैर्विचित्रम्।
> छिद्रं निरूप्य सहसा प्रविशत्यशंकः।
> सर्वं खलस्य चरितं मशकः करोति॥

म. प्रति में 'पुट्ठिमंसु' के स्थानपर 'पिट्ठिमंसु' पाठ है और टीकाकार ने उसका अर्थ 'धान्य की पीठी जिसमें मांस की कल्पना की गई हो' ऐसा किया है (धान्यचूर्णपीठ्यामपि मांस इति विकल्पे जाते सति सा पेठी त्यज्यते)। देवसेन कृत भावसंग्रह में कहा गया है कि गुड़ और धातकी (?) के योग से बने पिठर में मदिरा की शक्ति आजाती है। 'जह गुडधादइजोए पिठरे जाएइ मज्जिरासत्ती' (१०१)। इन तीन अर्थों में से लागू तो कोई भी किया जा सकता है पर पूर्ण संतोषप्रद मुझे उनमें से एक भी नहीं ज्ञात होता। दूसरी पंक्ति में जो कवि ने आलस्य और व्याधि की उपमा दी है उससे ज्ञात होता है कि उनकी समझ में 'पुट्ठिमंस' मांसभक्षण का मूल है।

४२. इस दोहे के प्रथम चरण का अर्थ कुछ अस्पष्ट है। 'मुत्तउ' पाठ मेरा कल्पित है। पोथियों में 'मुत्तइं' या 'मुत्तउ' है। म. प्रति का पाठ इस प्रकार है-'मज्जहु विलित्तिहि विमुत्तइं सुणहु हु मज्जु दोसु' और इसका अर्थ यह दिया गया है-'मदिरालिप्तमुखं यस्य तस्य मुखे श्वानो (श्वा) मूत्रं करोति'। यदि यह अर्थ अभीष्ट हो तो हम प्रथम चरण को इस प्रकार पढ़ सकते हैं-'मुहु विलित्तिहिवि मुत्तइ सुणहु' (मुखं विलिप्तं मूत्रयति श्वा)।

५८. इस दोहे का पाठ निश्चित करने तथा अर्थ बैठाने में बहुत कठिनाई का अनुभव हुआ है। फिर भी 'समसिट्ठियाहु' पाठ निश्चित है। शब्दों के अर्थ कोश में देखिये। म प्रति की टीका में दोहे का अर्थ इस प्रकार किया गया है 'शुद्धदर्शनं कृता मंथित यदा मता दुर्गहृता सर्पो मिथ्यात्वदास्यपः। एतादृशं सम्यक्त्वं हृदये सुस्थितं यस्य मनोपयागस्थितो 'समाढः' मार्गो मयः (?) पतति, हे जीव, धनधान्यानि जीवितव्यं धनानि आयुरपि'। प्रमुख ए. एन. उपाध्ये इस दोहे का अर्थ ऐसा करते हैं 'शुद्ध या मिथ्या दर्शन, जो (आत्मा) हृदय में स्थित, ... जो छोड़ो। मन के ... । हे जीव, धन और आयु चंचल हैं।'

के 'शृङ्गार' का 'शुद्ध' अर्थ मम्मटाचार्य कृत काव्यप्रकाश, ९, ८३, में प्रयुक्त 'गाढ़' के आधार पर करते हैं। (स्वेदकाम्बान्तर्गतृभूतमिति नास्य भेदकत्वम्)।

६२. वसुराजा की कथा इस प्रकार है। वसु स्वस्तिकावती का राजा था। वह एक ब्राह्मण पुत्र नारद और गुरुपुत्र पर्वत के साथ क्षीरकदम्ब उपाध्याय के पास विद्या पढ़ा था। गुरु की मृत्यु के पश्चात् एकबार नारद और पर्वत में 'अजैर्यष्टव्यम्' इस श्रुति के अर्थ पर विवाद खड़ा होगया। पर्वत अज का अर्थ बकरा करता था और नारद कहता था कि गुरुजी ने अज का अर्थ उन्हें 'तीन वर्ष के पुराने धान जो उग न सकें' यह बताया था। अन्त में उन्होंने इसके निर्णय के लिये वसु को मध्यस्थ चुना। पर्वत की माता ने वसु से अपने पुत्र के पक्ष करनेका वचन ले लिया। और तदनुसार वसु ने असत्य जानते हुए भी पर्वत के अर्थ की पुष्टि की। इस घोर असत्य के प्रभाव से वसु राजा अपने सिंहासन सहित पृथ्वी में धंस गया और फिर मर कर नरक को गया। (देखो नेमिदत्त कृत आराधना कथाकोष)।

'शाखारण्ड' वैदिक काल में उसे कहते थे जो अपनी शाखा को छोड़ कर दूसरी शाखा को स्वीकार करे। डाल का अर्थ भी शाखा है पर इस शब्द का उपयोग वृक्ष की शाखा के अर्थ में ही बहुधा देखा जाता है। संभव है 'खारंड' या 'भारंड' किसी ऐसे पक्षी व कीड़े को कहते हों जिसके डाल पर बैठने से उस डाल को हानि पहुंचे।

६३ इंछिय-इच्छा, इच्छा करके, देखो दोहा २०९.

६६. अ प्रति में 'पालिउ' के स्थान पर 'पाडिउ' पाठ है और उस प्रति की टीका इस प्रकार है-'येन गुरुरुक्तिं पालिता आत्मा तृष्णा वर्द्धते पध, तेन स्वयमं उत्पाटितम्। टीकाकार 'मोक्खलिवई' के अर्थ को न समझने के कारण भ्रम में पड़ गये हैं।

७० 'भयाई' का अर्थ ठीक समझ में नहीं आया। प्र. प्रति में इस शब्द पर 'छांड' ऐसा टिप्पण है इसी के आधार पर मैंने अनुवाद किया है।

म. प्रति में 'पुट्ठिमंसु' के स्थानपर 'पिट्ठिमंसु' पाठ है और टीकाकार ने उसका अर्थ 'धान्य की पीठी जिसमें मांस की कल्पना की गई हो ऐसा किया है (धान्यचूर्णपीठ्यामपि मांस इति विकल्पे जाते सति सा पेठी त्यज्यते)। देवसेन कृत भावसंग्रह में कहा गया है कि गुड़ और धातकी (?) के योग से बने पिठर में मदिरा की शक्ति आजाती है। 'जह गुडधादइजोए पिठरे जायइ मज्जिरासत्ती'' (१७१)। इन तीन अर्थों में से लागू तो कोई भी किया जा सकता है पर पूर्ण संतोषप्रद मुझे उनमें से एक भी नहीं ज्ञात होता। दूसरी पंक्ति में जो कवि ने आरम्भ और व्याधि की उपमा दी है उससे ज्ञात होता है कि उनकी समझ में 'पुट्ठिमस' मांसभक्षण का मूल है।

४२. इस दोहे के प्रथम चरण का अर्थ कुछ अस्पष्ट है। 'सुत्तउ' पाठ मेरा कल्पित है। पोथियों में 'मुत्तहं' या 'मुत्तउ' है। म. प्रति का पाठ इस प्रकार है-'मज्जहु विलिसिहि विमुत्तई सुणहु हु मज्जहु दोसु' और इसका अर्थ यह दिया गया है-'मदिरालिप्तमुखे यस्य तस्य मुखे श्वानो (श्वा) मूत्रं करोति'। यदि यह अर्थ अभीष्ट हो तो हम प्रथम चरण को इस प्रकार पढ़ सकते हैं-'मुहु विलिहिवि मुत्तइ सुणहु' (मुखं विलिह्य मूत्रयति श्वा)।

५८. इस दोहे का पाठ निश्चित करने तथा अर्थ बैठाने में बहुत कठिनाई का अनुभव हुआ है। फिर भी 'मसहिंयहु' पाठ संदिग्ध है। शब्दों के अर्थ कोश में देखिये। म प्रति की टीका में दोहे का अर्थ इस प्रकार दिया गया है 'गुरुदर्शनं कथा मंचेन यस्य गता दुर्गहता अत्यन्तं मिथ्यात्वशासनः। एतादृशो गम्यमान्य हृदये सुनिधानं यस्य मनोऽपायागामिनां 'मसाटः' प्राणी भयः (?) पतति, हे जीव, पलायति जीविमर्त्यं धनानि आयुरमपि'। ध गुप्त ए. एम. उसपरसे इस दोहे का अर्थ ऐसा करते हैं 'गुरु का मिथ्या दर्शन, जो (आतंक) दूसरों निभय का, को छोड़ो। मन के वश मत्त रहो। हे जीव, धन और आयु चंचल है।'

के 'शृङ्गार' या 'शुद्ध' अर्थ मम्मटाचार्य कृत काव्यप्रकाश, ९, ८१, में प्रयुक्त 'पशु' के आधार पर करते हैं। (स्वैरंकाव्यालंकारमूल्यमिति नारद देव-स्थानम्)।

६७. वसुराजा की कथा इस प्रकार है। वसु स्वस्तिकावती का राजा था। वह एक ब्राह्मण पुत्र नारद और गुरुपुत्र पर्वत के साथ क्षीरकदम्ब उपाध्याय के पास शिक्षा पाता था। गुरु की मृत्यु के पश्चात् एकबार नारद और पर्वत में 'अजैर्यष्टव्यम्' इस श्रुति के अर्थ पर विवाद खड़ा होगया। पर्वत अज का अर्थ बकरा करता था और नारद कहता था कि गुरुजी ने अज का अर्थ उन्हें 'तीन वर्ष के पुराने धान जो उग न सकें' यह बताया था। अन्त में उन्होंने इसके निर्णय के लिये वसु को मध्यस्थ चुना। पर्वत की माता ने वसु से अपने पुत्र के पक्ष करनेका वचन ले लिया। और तदनुसार वसु ने असत्य जानते हुए भी पर्वत के अर्थ की पुष्टि की। इस घोर असत्य के प्रभाव से वसु राजा अपने सिंहासन सहित पृथ्वी में धँस गया और फिर मर कर नरक को गया। (देखो नेमिदत्त कृत आराधना कथाकोष)।

'शाखारण्ड' वैदिक काल में उसे कहते थे जो अपनी शाखा को छोड़ कर दूसरी शाखा को स्वीकार करे। शाख का अर्थ भी शाखा है पर इस शब्द का उपयोग इस की शाखा के अर्थ में ही बहुधा देखा जाता है। संभव है 'शाखंड' या 'भारंड' किसी ऐसे पक्षी या कीड़े को कहते हों जिसके डाल पर बैठने से उस डाल को हानि पहुंचे।

६८. इंद्रिय-इच्छा, इच्छा करके, देखो दोहा १०९.

६९. भ. प्रति में 'पालिउ' के स्थान पर 'पाडिउ' पद है और उस पंक्ति की टीका इस प्रकार है-'येन मुकुलिते सति आत्मा कृष्णा पर्दैस्त पथ, तेन संयमं उत्पाटितम्। टीकाकार 'वेउलिदई' के अर्थ को न समझने के कारण भ्रम में पड़ गये हैं।

७०. 'अयारि' का अर्थ ठीक समझ में नहीं आता। प.प्रति में इस शब्द पर 'छाह' ऐसा टिप्पण है उसी के आधार पर मैंने अनुवाद किया है।

भ प्रति में दोहे की दूसरी पंक्ति का पाठ इस प्रकार है 'जिकरसाई एई उपजे किम अण्णाइ भवेइ ' और इसकी टीका है 'यथा निकर्वैर शानि परंडयनानि धान्यानि न भवेत्। (भंवंतुः)' प्रथम पंक्ति की टीका है 'मद्यमांसमधुपरित्यागे मति संपद्यन्ते श्रावकव्रतानि ' टीकाकार का अर्थ यह ज्ञात होता है 'मद्य, मांस और मधु के परित्याग से श्रावकव्रत होते हैं। घास के वन को बिना कृषि द्वारा साफ किये अन्न नहीं उत्पन्न हो सकता '।

श्रीयुक्त उपाध्ये का अनुमान है कि 'भवाई' 'भू + आदि' का अपभ्रंश रूप है और तदनुसार वे दोहे का अर्थ इसप्रकार करते हैं- 'जो मद्य, मांस और मधु का परित्याग करता है वही (शुद्ध) श्रावक होता है। एरण्डवन में से जब वृक्ष निकाल दिये जाते हैं तभी (शुद्ध) भूमि आदि रहते हैं' इन दोनों अर्थों में 'सपद' सम्पद्यते के समरूप लिया गया है और मेरे अनुवाद में 'सपद' 'सम्प्रति' के बराबर लिया गया है।

८२ इस दोहे की देवसेनकृत भावसंग्रह की निम्नलिखित गाथा से तुलना कीजिये—

> केई पुण गयतुरया गेहे रायाण उप्पाई पत्ता।
> दीसंति मच्छलोए कुच्छियपत्तस्स दाणेण ॥ ५४३ ॥

८४. 'उप्पहिं' का अर्थ अनुवाद में 'आत्मना' हिंदी-उपनकर किया गया है। भ. प्रति की टीका में उसका अर्थ 'उत्क्षिप्यते' दिया है।

८६. 'दोसडइ योल्लिज्जइ' का अर्थ अनुवाद में 'दोषेन कथ्यते' ऐसा लिया गया है। 'बोल' धातु अपभ्रंश में बुलाने के अर्थ में अनेक जगह आई है (देखो दोहा ८८, ११५)। किन्तु देवसेनकृत 'भावसंग्रह' में बोल (बोल) धातु कई बार 'बुड', हिंदी-बुड़ना या डूबना के अर्थ में प्रयुक्त हुई है (देखो गाथा ५४७, ५४८, आदि)। तदनुसार प्रस्तुत दोहे की प्रथम पंक्ति का अर्थ यह भी हो सकता है-'कुपात्र का दान (दाता को) दोष में

भ. प्रति में दोहे की दूसरी पंक्ति का पाठ इस प्रकार है 'णिक्कसियइँ परं-दुवणे णिम्म उप्पाइ भवेइ' और इसकी टीका है 'यथा निकर्षिताणि परंडवनानि धान्यानि न भवेत् । (अंकुरः)' प्रथम पंक्ति की टीका है 'मद्यमांसमधुपरित्यागो भवति संजायन्ते श्रावकव्रतानि'। टीकाकार का अर्थ यह ज्ञात होता है 'मद्य, मांस और मधु के परित्याग से श्रावकव्रत होते हैं। परंड के वन को बिना कृषि द्वारा साफ किये अन्न नहीं उत्पन्न हो सकता'।

श्रीयुत उपाध्ये का अनुमान है कि 'भवाइँ' 'भू + आदि' का अपभ्रंश रूप है और तदनुसार वे दोहे का अर्थ इसप्रकार देते हैं- 'जो मद्य, मांस और मधु का परित्याग करता है वही (शुद्ध) श्रावक होता है। एरण्डवन में से जब वृक्ष निकाल दिये जाते हैं तभी (शुद्ध) भूमि आदि रहते हैं' इन दोनों अर्थों में 'सपइ' सम्पद्यते के समरूप लिया गया है और मेरे अनुवाद में 'सपइ' 'सम्प्रति' के बराबर लिया गया है।

८२ इस दोहे की देवसेनकृत भावसंग्रह की निम्नलिखित गाथा से तुलना कीजिये —

केई पुण गयतुरया गेहे रायाण उप्पाई पत्ता ।
दीसंति मच्छलोए कुच्छियपत्तस्स दाणेण ॥ ५४३ ॥

८४. 'उप्पहिं' का अर्थ अनुवाद में 'आत्मना' हिंदी-उपतकर किया गया है। भ. प्रति की टीका में उसका अर्थ 'उत्क्षिप्यते' दिया है।

८६. 'दोसडइ बोल्लिज्जइ' का अर्थ अनुवाद में 'दोषेन कथ्यते' ऐसा लिया गया है। 'बोल' धातु अपभ्रंश में बुलाने के अर्थ में अनेक जगह आई है (देखो दोहा ८८, ११५)। किन्तु देवसेनकृत 'भावसंग्रह' में बोल (बोल) धातु कई बार 'ब्रुड्', हिंदी-बुडना या डूबना के अर्थ में प्रयुक्त हुई है (देखो गाथा ५४७, ५४८, आदि)। तदनुसार प्रस्तुत दोहे की प्रथम पंक्ति का अर्थ यह भी हो सकता है-'कुपात्र का दान (दाता को) दोष में

कहलाता है, इसमें भ्रान्ति नहीं। यह अर्थ अधिक अच्छा प्रतीत होता है और इससे पाषाण की नाव की उपमा बहुत उपयुक्त हो जाती है।

९९. 'घडंति' का अर्थ अनुवाद में 'घट्यन्ते' अर्थात् 'घटयुक्त होते हैं,' ऐसा लिखा गया है। भ. प्रति में ब प्रति के समान 'घट्टंति' पाठ है और टीका है 'यथा जलं निष्कासिते (जले निष्कासिते) कूपके नूतननीरं (क्षीरं) आगच्छति'। अर्थात् 'जैसे कूप से जल निकालने पर उसमें नवीन जल आजाता है'।

१००. अविण-अविन का अर्थ मैंने पालिका या पार किया है। अवि का अर्थ संस्कृत में दीवाल या पर्वत और 'अविन' का अर्थ पुरोहित (अवति रक्षति यजमानं इति, अव् + इनन्, है) होता। इसी के अनुसार अवनि पृथ्वी का नाम है। भ प्रति की टीका में भी यही अर्थ दिया गया है–'तडागनीरबंधनपालिकया विना स्फुटति नीरं न तिष्ठति'।

१०६. योगीन्द्रदेवकृत 'परमात्मप्रकाश' में एक यह दोहा है–

लाहहं कित्तिहि कारणिण जे सिवसंगु चयंति।
खीला लग्गिवि ते जि मुणि देउलु देउ डहंति॥

अर्थात् कीर्तिलाभ के कारण जो शिव (मोक्ष) का संग छोड़ते हैं वे मुनि कीलों के लिये देवालय और देव को जलाते हैं। इसी के अनुसार यदि हम प्रस्तुत दोहे का यह अर्थ करें तो अच्छा होगा 'पेट के लिये जो पापमति दूसरों को दुख पहुंचाता है वह मूर्ख क्या कीलों के लिये देवालय नहीं जलाता (फोड़ता)?' इसी प्रकार के भाव के लिये देखिये दोहा ११९-१२१.

१०९-११०. इन दोहों का भावार्थ यह प्रतीत होता है। कोई आदमी यदि प्रश्न करे कि जिस प्रकार लोहमय [illegible] द्रव्य से बड़ा व्यक्ति नहीं हो सकता उसी प्रकार छोटे से [illegible] से कोई बड़ा धर्म नहीं हो सकता, तो इसका उत्तर यह है कि व्यक्ति का बड़प्पन द्रव्य के परिमाण पर नहीं किन्तु

१२२. अनुवाद में मनगच्छ का अर्थ मनाग् + अच्छ, कुछ अच्छे, किया गया है और इस कारण ' मन कर ' यह भाव ऊपर से मिलाना पड़ा है। किन्तु दोहा नं. १२१ के नोट के अनुसार मग का ' मा ' अर्थ लेकर प्रथम पंक्ति का यह अर्थ कर सकते हैं ' हे जीव मनोमोहनस्य गेहस्य अभिलाषं मा गच्छ ' हे जीव मनमोहक गेह की अभिलाषा में मत जा ' । भ प्रति में ' मग ' के स्थान पर ' मा ' पाठ ही है।

१२३. अनुवाद में माडिह-मादि-दैन्य (Sadness, dejection) का समरूप किया गया है। यदि हम इसे दो शब्दों में- म डिउ-विभाजित करदें तो दोहे का यह अर्थ भी किया जा सकता है ' गुरु के वचनरूपी अंकुश से खींच। ऐसा ढीला मत छोड़ कि यह मनरूपी हाथी गेजमरूपी हरे भरे वृक्ष को व्यर्थ ही तोड़ मोड़ डाले ' । यह अर्थ अधिक अच्छा प्रतीत होता है। मुह का यहां अर्थ मुधा-व्यर्थ लिया गया है।

१२४ लोह शब्द सार्थक है लोभ और लोह, (लोहा) । भावार्थ यह है कि जिस प्रकार लोहे से भरी नाव के डूबने का भय रहता है किन्तु लोहा निकाल डालने से वह सुगमता से पार लगती है उसी प्रकार लोभ का भार निकाल फेंकने से मनुष्य की संसार-यात्रा सुगम होती है। इस दोहे की देवसेनकृत भावसंग्रह की निम्न लिखित गाथा से तुलना कीजिये—

लोहमए कुतरंडे लग्गो पुरिसो हु सीरणीवाहे।
बुड्डइ जह तह बुड्डइ कुपत्तसम्माणओ पुरिसो॥ ५४९॥

१२५. शब्द परिवार से तात्पर्य क्रोध, मान, माया आदि दोषों से है जो मोह के क्षीण होने से आप ही क्षीण हो जाते हैं। मोह मानों द्वार की अर्गला है जो इन सब दोषों को मकानरूपी देह में रोके हुए है।

भ. प्रति में ' ' मोहु ण ' पाठ है और प्रथम पंक्ति की टीका है ' यत्र मोहो दुर्द्धरो नास्ति तत्र इतरपरिवाराणि कार्यं क्षीणानि भवन्ति ' । इसी पंक्ति का अर्थ टीकाकार नहीं लगा सके। वे लिखते हैं

'द्वयोः पदानां (पदयोः) भावार्थो न ज्ञातो अतो मया न लिखितम्'।

१४२. 'चाड' शब्द 'त्यागेन' के समरूप लिया गया है और 'ण' 'नु' के (ण के इस अर्थ के लिये देखो कोष)। यदि उसके स्थान पर 'चाड', पाठ लिया जावे और वह 'कवित्तें' के साथ जोड़ दिया जावे तो यह अर्थ हो सकता है कि 'चाडु (चापलूसी) कवितों द्वारा पोषण (का वर्णन करने) से किसी पुरुष की कीर्ति नहीं हो सकती।' तात्पर्य यह होगा कि शत्रु को भी मीठे और उसकी प्रशंसा भरे वचनों से प्रसन्न करो। केवल वचनमात्र से उसकी कुछ कीर्ति तो हुई नहीं जाती ? इसकी निम्नलिखित श्लोक से तुलना कीजिये–

प्रियवाक्यप्रदानेन सर्वे तुष्यन्ति जन्तवः।
तस्मात्तदेव दातव्यं वचने का दरिद्रता ॥

१४३ इस दोहे में 'सरसइ' और 'समुद्दि' द्वयर्थक प्रतीत होते हैं। सरसइ सरस्वती व सरस या स्वरस, समुद्द–समुद्र व स्वमुद्रा, या समुद्रा। अर्थात् मौन से भोजन करने वाले को भोजन के रसों का आनन्द मिलता है, सरस्वती भी सिद्ध होती है, तथा लक्ष्मी भी प्राप्त होती है क्योंकि वह समुद्र (मुद्रित मुख) में निवास करती है। संभव है कि 'लच्छिम करहु णिवासु' में मकरहु णिवास [मकर (मगर) का निवास] के अर्थ का भी समावेश हो। किन्तु दोहे की रचना में इसे यथोचित रूप से योजित करना कठिन प्रतीत होता है। इस दोहे का संस्कृत रूपान्तर मैं इस प्रकार करता हूं–

भोजनं मौनेन यः करोति सरस्वती [स्वरसेन वा] सिध्यति तस्य। वसति समुद्रे (उदधौ मुद्रामुद्रिते मुखे वा) और लक्ष्मीः [illegible] निवासम् (तस्याः)। भ. प्रति की टीका में यह कुछ अर्थ नहीं बतलाया गया। टीका है 'यः पुरुषः भोजने मौनं कुर्यात् तस्य सरस्वतीसाध्याय (?) भवन्ति। अथवा ये पुरुषा स्वाध्यायेषु समुद्रिता भवन्ति ते लक्ष्मी-निवासा (?) भवन्ति'।

१७१. यह दोहा श्लेषपूर्ण है। पुष्पवृष्टि के वर्णन के साथ साथ कवि ने यहां विष्णु और जिन के भक्तों में अन्तर बतलाया है।

माहउवलंबण-माधवशरण (वसन्तऋतु-अवलम्बी, विष्णुभक्त).
खिप्पंति-क्षिप्यन्ते, क्षुभ्यन्ति (पड़ते हैं या क्षुब्ध होते हैं)
सुमणस-सुमनस (अच्छे पुष्प, शुद्ध मनवाले).
अलियवियज्जिय-अलिविवर्जित (भ्रमररहित), अलीक-विवर्जित (असत्यरहित).

१७४. रेहइ-राजते, विराजता है। तुकबंदी की दृष्टि से रोहइ-रोचते ही ठीक होगा।

१८५. श्रुतपंचमी का उपवास आषाढ़, कार्तिक और फाल्गुन मास के शुक्लपक्ष की पंचमी को माना जाता है (देखो णायकुमारचरिउ ९, १०, ४.)

१८८. रोहिणी उपवास प्रत्येक मास में रोहिणी नक्षत्र के दिन माना जाता है (देखो जैनव्रतकथासंग्रह पृ. ३६)। ण-नु (देखो कोष)।

१९१. दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप, ये चार आराधना कहलाती हैं। इस विषय का प्राकृत में अति प्राचीन ग्रंथ भगवती-आराधना है जिसका दिगम्बर समाज में बड़ा मान है। यहां उसी की टीका करने का उपदेश जान पड़ता है।

१९७. चंदकंति से चन्द्रकान्त मणि का तात्पर्य लिया गया है जो चंद्र की किरणों के संयोग से द्रवित होता है। यदि हम दूसरी पंक्ति को ऐसी पढ़ें 'चंद्रकंति चंदहं मिलिय पाणियदिण्ण ण ठाइ' तो इसका अर्थ यों कर सकते हैं, 'जब चंद्रकान्ति चन्द्र (पूर्णिमाचन्द्र) से मिलती है तब पानी का दैन्य (दीनता) नहीं ठहर सकता'। पूर्णिमा चन्द्र के उदय से समुद्र में ज्वारभाटा आता है यह प्रसिद्ध ही है।

२०५. प्रथम पंक्ति का भावार्थ कुछ अस्पष्ट है। भ. प्रति की टीका का अर्थ ठीक नहीं जँचता 'हे जीव, यदि त्यागं कर्तुमिच्छसि तर्हि जीवपुद्गलयोः येन सुखं प्राप्यते तत्त्यागं श्रेष्ठं कथितं। तस्य इदमेव सम्यक्त्वं कथं न जातम्'।

दोहों की वर्णानुक्रमाणिका

२१३. इस दोहे में कमलाकार सिद्धचक्र बनाकर उसकी पूजा करने का उपदेश है। सिद्धचक्र को बनाने का पूर्ण विवरण देवसेनकृत भावसंग्रह की ४४२ से ४६८ गाथाओं में है। इनमें की दो गाथायें ये हैं—

> सोलहदलकमलमज्झे अरिहं विलिहेह बिंदुकलसहियं।
> बंभेण वेढइत्ता उवरिं पुणु मायबीएण ॥ ४४४ ॥
>
> सोलससरेहिं वेढहु देहवियप्पेण अट्ठवग्गा वि ॥
> अट्ठहिं दलेहिं सुपयं अरिहंताण णमो सहियं ॥ ४४५ ॥

(वसुनन्दी श्रावकाचार की ४७० आदि गाथायें भी देखिये)।

२१८. ये पांच वर्ण क्रम से अर्हन्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु के द्योतक हैं। यह जपमंत्र है।

२१९. यह सप्ताक्षर (यथार्थतः सप्तमात्रिक) मन्त्र कहलाता है। उसमें दो वर्ण दीर्घ होने से कुल सात मात्रायें हैं।

२२०. 'पट्टोलयतलगंथियहं' का ठीक अर्थ समझ में नहीं आया। अधिक अच्छे अर्थ के अभाव में अनुवाद में वह अर्थ दे दिया है।

पट्टोलय–पट+उल्लोच (वितान) जिसे हिन्दी में कपड़े का छत कहते हैं। कमरे में इस छत को तानने के लिये जगह जगह उसके किनारों पर एक पत्थर का टुकड़ा देकर गांठ दे देते हैं। इस तुच्छ कार्य के लिये जो एक बड़े बहुमूल्य रत्न के टुकड़े करे उससे बड़ा मूर्ख और कौन होगा? आप्टे के संस्कृत-अंग्रेजी कोष में पटोल का अर्थ भी एक प्रकारका वस्त्र (a kind of cloth) दिया है। शुक्ति अर्थात् सीप जिसमें से मोती निकलता है, को भी संस्कृत में पटोलक कहते हैं। भ. प्रति में अन्त के सात दोहों की टीका नहीं है।

२२२ द्वितीय पंक्ति में श्लेष है। जैसे दोहनेवालों को धेनु उत्तम दूध देती है उसी प्रकार यह उत्तम दोहों की धर्मधेनु (पढ़ने वालों को) उत्तम पद देगी। धर्मधेनुः संदोहकेभ्यः संदोहकानाम् या, परपयः पर-पदं वा ददाति न भ्रान्तिः।

कारंजा से दो ग्रन्थमालाएं प्रकाशित हो रही हैं

जिनमें निम्न लिखित अपभ्रंश भाषा के ग्रन्थ
प्रकाशित हो चुके हैं-

जसहरचरिउ पुष्पदन्त कृत	६)
सावयधम्मदोहा	२॥)
णायकुमारचरिउ पुष्पदन्त कृत	६)

निम्न लिखित अपभ्रंश ग्रन्थ शीघ्र ही क्रमशः प्रकाशित होने वाले हैं-

करकंडचरिउ - कनकामरमुनि कृत.
पाहुड दोहा
सुदं [illegible] चरि[illegible] [illegible]न्दि कृत

शुद्धिपत्र.

अर्थ की दृष्टि से दोहों के पाठ व अनुवाद में जो सुधार किये जा सकते हैं वे टिप्पनी में बतलाये गये हैं। यहां केवल प्रेस की अशुद्धियों का शोधन किया जाता है।

दोहा नं.	अशुद्ध.	शुद्ध.
९.	मणुसजम्मु	माणुसजम्मु
६६	पलिउ	पालिउ
६७	पिडिउ	पडिउ
६८	उप्पज्जइं	उप्पज्जइ
१०७	गम्मु	धम्मु
११०	णिट्ठुणी	णिट्ठुरी
१३३	णिसुद्दी	णिसुद्दि

शुद्धिपत्र.

अर्थ की दृष्टि से दोहों के पाठ व अनुवाद में जो सुधार किये जा सकते हैं वे टिप्पनी में बतलाये गये हैं। यहां केवल प्रेस की अशुद्धियों का शोधन किया जाता है।

दोहा नं.	अशुद्ध.	शुद्ध.
९	मणुसजम्मु	माणुसजम्मु
६६	पलिउ	पालिउ
६७	पिडिउ	पडिउ
६८	उप्पज्जइं	उप्पज्जइ
१०७	धम्मु	धम्मु
११५	णिट्ठणी	णिट्ठुणी
१३३	मिलही	मिलहि